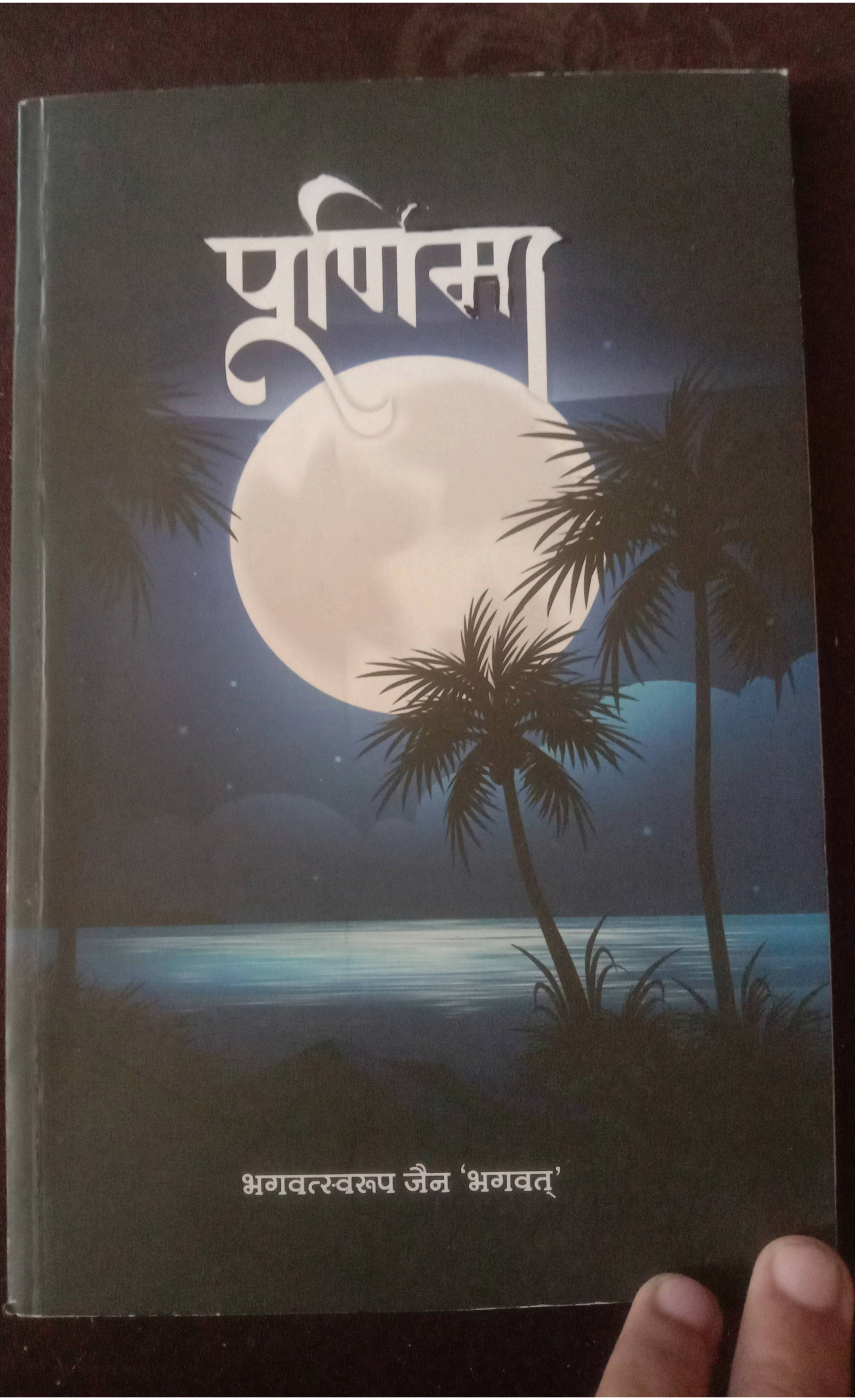

पूर्णिमा
भगवत्स्वरूप जैन 'भगवत्'

विषय-सूची

क्र.	कहानी	पृष्ठ सं.
1.	पूर्णिमा	7
2.	विश्वासघात	17
3.	उस दिन	32
4.	पत्थर का टुकड़ा	40
5.	उपरम्भा	51
6.	शिकारी	61
7.	आत्म-समर्पण	68
8.	राजपुत्र	79
9.	पाप का प्रायश्चित्त	90
10.	रात की बात	98
11.	क्षमा के पथ पर	106
12.	करनी का फल	117

धन, रूप और शक्ति से
मानव की महानता नहीं है,
महानता है
त्याग तपस्या
और संयम से।

1. पूर्णिमा

हाँ वह गरीब, लकड़ियों का गट्ठा सिर पर लादे चला जा रहा था। यही तो उसका दैनिक कार्य था, पेशा था। नित्य जंगल से लकड़ियाँ लाता और शहर में बेचता। जो लाभ होता वह जीवन-निर्वाह के काम आता। पर, वह इतना अल्प, कि गुजर भी मुश्किल से ही हो पाती। अच्छा भोजन, सुन्दर वस्त्र नसीब होना तो दूर की बात ! वह गरीब जो था।

हाँ, गरीब। फटे-पुराने, मैले-कुचैले, चीथड़े लपेटे ऐसा लगता जैसे भिखारी । एक तो पेशा ऐसा जिसकी मलिनता से दोस्ती, दूसरे पैसे की तंगी और तीसरा सबब उसे फुर्सत कहाँ ? जो अपना शृङ्गार-बनाव बना सके। सूर्योदय से सूर्यास्त तक का कठिन परिश्रम सन्तोष की साँस भी तो नहीं लेने देता ? और अब बताइये उसका मुँह, उसके बाल, उसका सारा शरीर मलिन, घृणास्पद है तो इसमें उसका क्या दोष ? कसूर तो है उसकी गरीबी का और पूछो तो भाग्य का।

बाजार की चहल-पहल से ऊपर, अपने कोठे के छज्जे पर शहर की मशहूर, राज-मान्य, सौन्दर्य-मद और ख्याति-मद से उन्मत्त- पद्मावती सहेलियों के साथ बैठी, रस-भरी बातों में आनन्द ले रही है। रह-रहकर हँसी के फुहारे छूट रहे हैं और समय बीत रहा है क्षण-क्षण! वैभव की गोद बैठी पद्मावती को क्या? समय की महत्ता का अनुभव तो आत्म-ज्ञानी करते हैं। उन्हें जो उसे उपयोगी बनाना पड़ता है।

हर्ष-मग्न! अल्हड़!! मस्त!!!

नीचे-पथ पर....यातायात जारी है। वह एक सरसरी किन्तु विष-भरी दृष्टि से पथिकों को देखती है उसी तरह, जिस तरह एक बड़ा दुकानदार ग्राहकों को देखा करता है और फिर अपनी बातों में मशगूल[1]! जैसे बड़ी काम की बातें हों और देखना ही बेकार चीज। हाँ! जबकि देखना-दिखाना उसका पेशा है। लोगों को रिझाना उसकी आजीविका और स्वार्थ उसका जीवन! वह जो वेश्या है, नृत्य-कारिणी!

सहसा उसकी गर्व से आरक्त[2] आँखों ने दुनिया को हेय समझने वाली नजरों ने देखा। देखा कि रूखे बाल, भयानक देह, बदबूदार चिथड़ों में अपने को छिपाये एक मानव-मूर्ति लकड़ियों का गट्ठर सिर पर लादे चली जा रही है।-'उफ्! कितना वीभत्स?'- घृणा से पद्मावती ने मुँह बिचकाया! जैसे गरीब या गन्दे मनुष्य का अस्तित्व ही न हो उसके काल्पनिक संसार में!

1. व्यस्त 2. हल्का लाल

और फिर यों ही, तफरीहन[1]-अपनी सुगन्धित, कीमती पान की पीक उस पर छोड़ दी! जैसे गरीब के सत्कार का यह तरीका हो!

एक मुक्त कण्ठ का जोरदार ठहाका!

'हँय। यह क्या गिरा?-'गरीब ने घबड़ा कर देखा-पान की पीक। अविलम्ब उसकी आँखें ऊपर उठीं। देखा सौंदर्य की सीमा, षोड़शी वेश्या उसकी ओर देख-देखकर हँस रही है। लोट-पोट हुई जा रही है।

आत्म-ग्लानि से हृदय भर गया-लबालब। अनुभव किया- 'यह उसका अपमान है।'

ठेस-सी लगी कि वह उबल पड़ा-व्यथित, कम्पित और उखड़े हुए स्वर में बोला- 'क्या हँस रही हो? सदा यही दिन न रहेंगे। आज तुम्हारे पास खरीददार हैं, पैसा है रूप है पर याद रखो - यह सब अस्थिर है। ज्यादा गर्व न करो, मैं भी मनुष्य हूँ और तुम हर एक मनुष्य की कनीज[2] हो, दासी हो, मुहताज हो।'

गरीब के भीतर शायद पुरुषत्व जाग गया था। आवाज में तेजी आ गई थी, शब्दों में जोश।

'आज तुम थूकती हो मेरे ऊपर। यह भूल कर कि तुम स्त्री हो, वेश्या हो और मैं पुरुष। वह दिन भी आ सकता है कि तुम मुझे प्यार करो, सत्कार दो और गले लगाओ। समझो मेरे पैर दबाने में अपना-अहोभाग्य।'

पर, पद्मावती न पिघली, न झुकी। वही दर्प वही तेज!-

1. मन बहलाव के लिये 2. दासी, बाँदी

'हवा खा-तेरी हस्ती क्या जो मेरी सीढ़ियों पर पैर भी धर सके ? यहाँ आता है वह, जिसकी जेब में होते हैं, कम से कम पाँच सौ रुपये। देखे हैं-कभी ? चल । तू क्या आयेगा भिखमंगे। हट। यह शकल और अंगूरों पर तबियत ?-कटीली पुतलियों को इधर-उधर नचाते हुए पद्मावती ने कहा।

'खूब!' एक लम्बी-साँस लेते हुये भार वाहक ने उदासी के साथ उत्तर दिया और सिर झुकाये कुछ सोचता हुआ-सा आगे बढ़ा।

(2)

परिश्रम और मितव्ययता का गुण-गान इसीलिये तो गाया जाता है कि वह किमिच्छक बनाने की शक्ति रखती है।

उसने भी इन्हीं की शरण ली। परिश्रम को एक कदम और आगे ढकेला- वह अब दिन में दो बार लकड़ियाँ लाता और बेचता। खुराक में भी यथा साध्य-जितना कर सकता-लोभ करता। गर्ज यह कि पैसा जोड़ता। जैसे आज हम सब।

आखिर वह दिन आया।-

कि जिस दिन के लिये उस गरीब के सूने-हृदय में मीठी-मीठी कल्पनायें उठा करती थीं। कई रातें जिस कल्पनाओं-मीठे अरमानों के सोचने में वह बिता चुका है-बगैर पलक मिलाए।

और हाँ! वह भविष्य, जो महीनों उसे अह्लाद के दरिया में डुबोता रहा है, आज 'वर्तमान' बन कर उसके सामने है। परम हर्ष। भरे हुये घड़े की तरह आज उसका हृदय उछालें ले रहा है कि उसके पास आज पाँच सौ रुपये हैं, पूरे पाँच सौ।

जिनकी बदौलत वह आज अपने दिल पर किये घाव में मलहम लगा सकेगा अपने अपमान की दु:खद-स्मृति का अन्त कर सकेगा और कर सकेगा अपनी पुरानी अभिलाषा की पूर्ति। एक अरसे से जिनके लिये साधनामय जीवन बिता रहा था। अब उसके मार्ग में क्या बाधा ? क्या रुकावट ? दरिद्रशूल पर विजय जो पाली थी उसने।

उसे लगा- 'जैसे वह आज बलवान है। ताकत है वह एक। शब्दों में दीनत्व का पता नहीं।'

आज वह रोज से जरा पहले उठा और उठते ही भागा जंगल की ओर।

तीन घण्टे अथक परिश्रम के बाद वह जब लौटा तो एक बड़ा-सा लकड़ियों का गट्ठर उसके सिर पर था। नित्य की अपेक्षा आज दुगुना वजन था, पर, चल ऐसा रहा था वह जैसे कोई बोझ नहीं हो उस पर। वह जो आज प्रसन्न था अत्यधिक! नव-स्फूर्ति, नव- शक्ति जो आज उसमें समा रही थी। रोज मरते-जीते जितने वजन को उठाता, आज उससे दूना-चौकस दूना-उठाते भी अखरता नहीं। मन में जो हो रहा है आशा का ताण्डव! वह चल रहा है कल्पना के सुनहरे संसार में, उसे इस बोझ से मतलब क्या ?

उसने आज गट्ठर बेचा नहीं, बेचना जो नहीं था। पहुँचा धोबी के घर । आवाज लगाई। वह बाहर आया। बात शायद पहले ही तय हो चुकी थी। अत: उसके मुताबिक गट्ठर उसने घर में डलवाया, और दूध-सा सफेद एक बढ़िया ड्रेस लाकर उसे दिया। उसकी खुशी का क्षेत्र क्रमश: बढ़ता जा रहा है।

घर आया। तन्मयता के साथ स्नान-भोजन किया। बालों में तेल डाला, सुलझाया, करीने से माँग निकाली और महकते हुए सैण्ट से शरीर को सौरभित बनाया। इसके बाद कपड़ों से शरीर को सजाया। जीवन में पहली बार वह जेण्टिलमैन बना।

शीशे में मुँह देखा, तो वह स्वयं चौंक पड़ा- वेश-भूषा ने कुछ का कुछ बना दिया था उसे।

कौन था जो आज उससे घृणा करता? माना कि पतन के रास्ते पर था वह। पर, था तो उजले-पोश भला मानव जैसा और दुनियाँ में देखा क्या जाता है? यही तो। हृदय को कौन टटोलता, परखता है?

इधर सूरज अस्ताचल की ओर जा रहा है और उधर वह पद्मावती की ड्योढ़ी[1] पर।

क्या दोनों का पतन हो रहा है-एक साथ?

(3)

'चलिये, तशरीफ रखिये!'-पद्मावती ने स्वाभाविक मधुर मुस्कान बिखेरते हुये कहा।

वह बैठ गया-ऊँची-गद्दी पर, मसनद[2] के सहारे। आज जो उसके भीतर एक ताकत-सी, तेज-सा उसे अभय बना रहा है। मन में वासना की आँधी उठ रही है-गतिशील।- 'बड़ी सुन्दर है पद्मावती। तभी तो राजमान्य है न? अहहः ! मेरा भाग्य कि आज इसका मेहमान हूँ।

1. दहलीज, पौरी 2. गोल लंबोतरा, बड़ा तकिया

विचारों के मार्ग में ठोकर आई रुख पलट गया- 'उस दिन पान की पीक इसने मेरे ऊर हिश्! कितना गन्दा, बुरा था मैं उस दिन। कपड़ों से बदबू छूट रही थी। सच ही तो घृणा की चीज तो था ही, बेजा क्या किया इसने? घूरे को पूजता कौन है? सोचता हूँ- साफ तो रहना ही चाहिये।'

पद्मावती पास बैठी थी और उसके रूप ने भार वाहक को कर दिया था-मस्त, पागल। वह जो पुरुष था। विरोधी भावनायें उठ कैसे सकती थीं मन में।

'कहिए, मेरे लायक कोई खिदमत[1]।' -वह बोली, मीठे, मुलायम और हृदयस्पर्शी स्वर में!

भार-वाहक जी-जान से उस पर कुर्बान हो गया। -रूप ऐसी ही शराब तो है।

'यह लीजिये।'

और उसने पाँच सौ रुपये उसके सामने रख दिये! वही पाँच सौ-जो एक-एक कर इकट्ठे हुए, जिनके उपार्जन में ऐड़ी-चोटी का पसीना एक कर देना पड़ा और जिनके सबब शरीर पर जो सितम ढाए गए वह अनुभवीय है।

पद्मावती ने पाँच सौ रुपयों पर नजर डाली जैसे उसके लिये वह कोई चीज नहीं-तुच्छ सम्पत्ति। वह जो धनी थी। उसकी तृष्णा जो बढ़ी-चढ़ी थी।

इशारा पाकर दासी ने रुपये गिने। और गिनकर 'ठीक।'

उन्मीलित आँखों से पद्मावती ने एक बार भार-वाहक की

1. सेवा-सत्कार

ओर ताका। नजर में मद था और थी शायद कुछ लज्जा। हो सकता है-उसने भार-वाहक को पहिचान लिया हो। वह जो उसके निकट अपराधिनी थी। बोली-'चलिए।'

और चली मंजिल की छत पर! पीछे-पीछे उमंगों, अरमानों में उलझा हुआ, भार-वाहक चला।

(4)

खुली छत। ठण्डी हवा और चाँदनी-रात यानी-वह सब, जिसे काम-कला के अनुभवी उत्तेजक कहते हैं। सिर्फ दो, एक स्त्री-जो रूप विक्रेता है, एक पुरुष-जो रूप का ग्राहक है। शेष नीरव, शान्ति।

दोनों कीमती, गद्दीदार पलंग पर बैठे, एक दूसरे को निहार रहे हैं। जैसे नजरों के रास्ते अन्दर उतार रहे हों! प्रेम-लीला का रंग-मंच तैयार है। -अभिनय की प्रतीक्षा में।-

और आकाश में पूर्णिमा का अखण्ड, किरन परिवार मण्डित, धुला-सा चन्द्र चमक रहा है। जैसे किसी महा-मानव का यश ज्योत्स्ना के रूप में दिग-दिगन्त व्याप्त हो रहा है।

भार-वाहक के ऊपर जैसे ही चाँदनी पड़ी कि वह चौंक पड़ा। बोला-'क्या आज पूर्णिमा है?

'हाँ। पूर्णमासी की रात तो है ही आज। तभी तो-कैसी सुन्दर रात है, देखो तो कलाधर कैसा हँस रहा है-मस्ती बखेर-बखेर कर।' -मद-भरी आँखें-भार-वाहक की आँखों में डालते हुये, पद्मावती ने कहा।

'हूँ-। तब तो-'? और वह किसी गहन सोच में पड़ गया। शायद चाँदनी का आलोक उसके भीतर प्रवेश कर गया था। वासना का तूफान उतरने लगा। शरीर में कोमलता फूट उठी। विचारों का संघर्ष।

'अरे, पूर्णिमा की रात का तो व्रत ले चुका है कि ब्रह्मचर्य रखेगा-प्राण देकर भी प्रण-पालन करेगा। फिर? क्या अब उस पावन प्रतिज्ञा को भंग कर दे?-क्षणिक सुखाभास के लिए? न, यह तो अधम जीवन होगा, सरासर पशुता होगी। पर, यह जो कठिनाई के पाँच सौ-पाँच हजार, पाँच करोड़ या पाँच अरब जैसे रुपये तो व्यर्थ जायेंगे न?-हुःह। जाने दो-धर्म तो बचेगा, वचन-हत्या तो न होगी, प्रतिज्ञाघात का पापी न बनूँगा न? और वही तो जीवन होता है। नहीं, इस नश्वर संसार में है क्या? खोखली आशा।'

'क्या सोच रहे हो?'- पद्मावती ने प्रसन्नता की रेखाओं से पूर्ण मुख से पूछा।

'कुछ नहीं। आज जा रहा हूँ-पद्मावती! क्षमा करना मुझे।' -अपूर्व तेज और सीधेपन के साथ भार-वाहक ने उत्तर दिया।

'क्यों? क्यों? हुआ क्या?' वह बोली, स्वर में घबराहट थी और थी उतावली। शायद उसका मन भी भार-वाहक के स्वस्थ ताजे शरीर पर मुग्ध हो चुका था। वाणी में-वेश्या सिद्धान्त के विरुद्ध-आत्मीयता जो थी।

वह बोला, शब्द-शब्द में गम्भीरता थी-'बात यह है आज पूर्णिमा की चाँदनी-रात है और वह रात है मेरी प्रतिज्ञा में आबद्ध।

समझी ? उसे तोड़कर मैं पातकी[1]-वासना का दास नहीं बन सकता।'

और वह खट्-खट्-खट् सीढ़ियों से नीचे उतर गया। मैं पूछता हूँ-क्या वह नीचे उतरा या ऊपर चढ़ा ?- पूज्यत्व की ओर।

पद्मावती अवाक्। शायद उसकी चेतना शक्ति जड़ बनी जा रही थी। या गला रुँध रहा था। वह देखती भर रही, जब तक देख सकी।

उसने अनुभव किया-यह दरिद्र लकड़हारा नहीं, महापुरुष है। जैसा कि जीवन में पहली बार देखने का मौका मिला।

और दो बूँद आँसू दोनों कोहों से निकल कर, तकिए की रुई में छिपने चले।

आकाश में अब भी पूर्णिमा थी पर पद्मावती के हृदय--प्रदेश में अमावस!

यद्यपि स्त्री सभी बातों में
पुरुष की समानता नहीं कर सकती है
किन्तु
कभी-कभी व्यवहारिक
सूझ-बूझ और चतुरता में
वह पुरुष से बहुत आगे निकल जाती है।
यह पुरुष की अहमन्यता[2] है।
कि वह उसके प्रस्ताव का सम्मान न कर।

1. पापमय 2. अहंकार

2. विश्वासघात

चन्द्राभा ने अपने आराध्य पति वीरसेन को बहुत कुछ समझाया-बुझाया, लाख मना किया कि मुझे अयोध्या नरेश सम्राट मधु के स्वागत का भार न सौंपो। उनकी आरती उतारने के लिए दूसरा प्रबन्ध किया जा सकता है, जो मेरे अभाव के सबब[1] भी कम महत्त्वपूर्ण न होगा लेकिन वीरसेन की समझ में एक न आई। समझ न आने की वजह थी और उनकी दृष्टि में बड़ी माकूल[2] कि महाराज उनके बड़े राजा हैं, बड़ी कृपा रखते हैं। अभी जो पधारे हैं, वह उन्हीं के आग्रह पर, उन्हीं के संकट-मोचन करने के लिए। भीम उनका नगर उजाड़ रहा था, सिंहासन डावाडोल करने की ताक में था, छिपे-छिपे शक्ति-संचय कर बागी[3] होने जा रहा था। अगर वह अपने प्रभु महाराज को यह सन्देश न पहुँचाते, उन्हें उस दुष्ट पर चढ़ाई करने की सलाह न देते, तो इस अनर्थ का हिस्सा कुछ उन्हें भी मिलता कि नहीं ? मधु के कर्तव्य की बात वह नहीं जानते। वह जानते हैं सिर्फ इतना कि मधु, जो एक महान पराक्रमी राजा है, उनकी बुलबाहट[4] पर आ गए, यह गौरव की बात है, सौभाग्य की बात है। ऐसी हालत में अब अगर उनके सत्कार में कुछ कमी रहती है-वे और उनकी पत्नी उसमें जी खोलकर सहयोग नहीं देते तो यह बड़े अफसोस की बात होगी।

1. कारण 2. उचित 3. विद्रोह करने वाला 4. बुलावा

वीरसेन स्वभाव से भोले और अन्धश्रद्धालु नरेश हैं। वह मधु के अन्दर अनेक मातहत[1] राजाओं में सबसे अधिक स्वामी भक्त हैं। शायद यही वजह है कि महाराज मधु की विशेष कृपा इन्हें प्राप्त है।

लेकिन चन्द्राभा पति के विचारों से जुदी है। वह यहाँ तक तो सहमत है कि महाराज का पूर्ण सत्कार हो। मगर यह मानने को तैयार नहीं कि सत्कार की पूर्णता उसी पर निर्भर है। वह सुन्दरी है परम सुन्दरी। दुर्लभ सौन्दर्य उसे प्राप्त है और वह जानती भी है – खूब अच्छी तरह कि **सौन्दर्य एक तेज मदिरा है, वह आँखों के द्वारा हृदय में उतरती है और उसका नशा–घण्टों नहीं, वर्षों तक, जीवनांत तक भी नहीं उतरता।** वह इरादतन[2] ही नहीं अनजाने भी चढ़ जाता है। अच्छे चरित्र वाला भी उसका शिकार हो जाता है।

पर यह सब महाराज को समझायें कैसे ? वह जो भक्ति में अपने विवेक को भुलाये बैठे हैं।

नीति में कहा–'**अपने से बलवान को, अगर तुम्हारे पास कोई सुन्दर वस्तु हो तो उसे मत दिखाओ।**' –चन्द्राभा ने अपनी बात को, नीति की आड़ लेकर वीरसेन की स्वामि–भक्ति के मुकाबिले[3] में खड़ा किया।

स्त्रीहठ आज की चीज नहीं, बहुत पुरानी है। देखो, तुम व्यर्थ ही महाराज मधु की महानता पर हमला कर रही हो। जरा–सा रूप पाकर तुम्हें अहंकार हो गया है। नहीं जानती– महाराज के यहाँ तुम जैसी सैंकड़ों दासियाँ आँगन बुहारी करती हैं।–वीरसेन ने इच्छा

1. अधीन 2. इच्छापूर्वक 3. सामने

के विरुद्ध रानी को बोलते देखा तो खीझ उठे विरक्त स्वर में कठोरता व्यक्त करने लगे।

स्त्री अपने जीवन में दो चीजों को ज्यादा पसन्द करती है– प्रेम और सम्मान। पर चन्द्राभा को वीरसेन से इस वक्त एक भी नहीं मिली। उसे दु:ख तो बहुत हुआ, अपने अपमान का, पति की विरक्तता का और इन दोनों से भी ज्यादा इस बात का कि उसका भोला, अन्धभक्त पति भविष्य से निश्चिन्त हो बैठा है। विरोधी विचारों का सुनना भी पाप समझता है।

पर, निरुपाय थी। पति का आदेश जो था, उसे टाला जाना पत्नीत्व का नाश था, जो उसे इष्ट नहीं था–किसी भाव भी। सामने सजा हुआ आरती का थाल रखा था। चुप, उठी और थाल लेकर चल दी। वीरसेन का मन मारे खुशी के विह्वल हो उठा। इतनी देर बाद स्त्रीहठ को ठेलकर कामयाबी जो हासिल कर पाए थे। क्या कम बात थी यह ?

(2)

बहुत बार ऐसा होता है कि बात मन में कुछ उठी नहीं कि सामने आई, आशंका न रहकर भय बनी।

पर वीरसेन जरा न समझा कि कुछ हुआ है। दोनों ने मिलकर आरती की खूब और खुशी–खुशी लौट आए।

लेकिन चन्द्राभा कोशिश करने पर भी यह न भूल सकी कि महाराज मधु उसके ऊपर मोहित हो गए हैं। आरती के वक्त की

भाव-भंगी उसे अब भी याद है। ऐसी याद है जैसे पाषाण पर आँक दी हो, जो मिटेगी नहीं।

उसने एकान्त में पति से कहा-'देखा कुछ'?

वह बोले -'क्या? नहीं तो, मैंने कुछ नहीं देखा।'

'मैंने कहा था न? वही हुआ-आपके महाराज का मन स्थिर नहीं रहा है। वे मेरी ओर बुरी निगाह से देख रहे थे।' चन्द्राभा ने दबी जबान से, दबे शब्दों में कहा और देखने लगी मुँह की ओर, पहचानने के लिए कि इसका असर क्या होता है?

वीरसेन हँसे।

फिर करीब-करीब हँसते हुए ही बोले-'खूब। अरे, तुम्हारे मन में तो 'बहम' घुस गया है। बेजा[1] क्या है? समझती हो-बहुत खूबसूरत हूँ, परी-पैकर हूँ-मेरी-सी धरती के पर्दे पर दूसरी नहीं। क्यों, इसमें कुछ झूठ कह रहा हूँ क्या मैं?'

रानी को ऐसा लगा-जैसे उसके पुराने घाव में किसी ने पिसा नमक भर दिया। वह तिलमिला गई, तड़प उठी। पर बोली कुछ नहीं।

और उधर-

महाराज मधु का बुरा हाल था। वह लोकलाज, न्याय-अन्याय, यश-अपयश, धर्म-अधर्म सबका विचार भुला बैठे। राजा जो ठहरे, बड़े राजा। उन्हें भय तो होता नहीं। अगर वही हृदय प्रेरणा का इतना आदर न करें, तो फिर वश किसका? कौन कर सकता है? स्वामित्व जो है, वह किसलिये है?

1. अनुचित

खुलेआम कहने लगे- 'मुझे चन्द्राभा मिलनी ही चाहिये। वह मेरे मन की चोर है। उसके बिना मैं एक पल भी विनोदपूर्वक-नहीं बिता सकता। उसका मिलन ही मेरा जीवन है।'

मन्त्रियों ने समझाया -'महाराज यह क्या कहते हैं? बड़ा अपयश होगा। दुनियाँ में मुँह दिखाने तक को जगह न रहेगी। आपके कुल की मर्यादा, पूर्वजों की कीर्ति और आपकी न्यायप्रियता सब धूल में मिल जायेगी।'

'लोग कहेंगे लेकिन मेरा मन तब चुप हो जायेगा, सन्तुष्ट हो जायेगा। मुझे लोगों की परवाह नहीं, दुनियाँ की परवाह नहीं, मैं ये बातें नहीं, चन्द्राभा को चाहता हूँ। उसी को चाहता हूँ-जिसने मेरी मन की दुनियाँ में तूफान उठा दिया है। अगर तुम उसे नहीं ला सकते, तो मेरे सामने आने से बाज[1] आओ।' - महाराज मधु ने बात काटते हुए, जोरदार शब्दों में अपनी आन्तरिकता को सामने रखा।

मन्त्री चुप।

सोचने लगे - 'महाराज को काम-ज्वर ने सताया है। कामी किसकी सम्मान रक्षा का ख्याल करता है? वह आपे में ही कहाँ रहता है? महाराज ने जो कहा है, यह सब विकृत-मस्तिष्क की बातें हैं। उन्हें स्वयं इसका ज्ञान नहीं कि उन्होंने क्या कहा?'

बहुत देर तक बातें हुईं। मन्त्रियों ने अपना उत्तर दायित्व योग्यतापूर्वक निभाया और इस समझौते पर समस्या स्थगित की गई कि महाराज युद्ध विजय कर अयोध्या लौट चलें। इसके बाद-कुछ

1. सामने आने से बाज आओ अर्थात् सामने मत आओ

ही दिनों के अनन्तर, मन्त्रीगण किसी चातुर्यपूर्ण युक्ति द्वारा चन्द्राभा को अयोध्या बुला देंगे। वैसी दशा में उनकी इच्छा पूर्ति के साथ-साथ, अधिक होने वाले अपयश से भी थोड़ा वह बच सकेंगे।

(3)

मधु ऋतु के प्रारम्भ के दिन!

जबकि हरियाली नवीनता को अपनाकर फूली नहीं समाती। भ्रमरों की गुञ्जार से, कोयलों की कूक से उपवन का कोना-कोना निनादित होने लगता है। कुसुम सौरभ को लेकर समीर[1] भागा-भागा फिरता है। समीरण से उमंग स्फूर्ति का सन्देश पाकर मानव मौज की अँगड़ाइयाँ ले उठता है।

तभी एक दिन वीरसेन और चन्द्राभा एक कागज को लेकर झगड़ रहे हैं। एक ओर दासी की प्रार्थना है, दूसरी ओर पति का अधिकार। एक ओर विवशता है, दूसरी ओर उत्सुकता। एक ओर भविष्य की चिन्ता है, दूसरी ओर भक्ति की - स्वामी भक्ति की प्रबलता।

देखो, लिखा है-'वसन्तोत्सव मनाने का विशाल आयोजन किया गया है। अनेकों राजे महाराजे सपत्नीक आ रहे हैं। तुम्हें भी पत्नी सहित शीघ्र पधार कर इसमें सहयोग देना चाहिए।'-सुना! अयोध्या नरेश बड़ा भारी मेला करा रहे हैं और उसमें बुला रहे हैं मुझे और तुम्हें भी। बड़ा प्रेम मानते हैं-हम लोगों से। तभी तो? और देखो, यह नीचे क्या लिखा है-'अगर तुम लोग न आये, या देर से

1. पवन

आये, तो महाराज बहुत बुरा मानेंगे। तुम्हें पत्र पहुँचते ही तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिये नहीं तो हमें दूसरा आदमी फिर से भेजना पड़ेगा। यहाँ बहुत नर-नारी इकट्ठे हो चुके हैं। महोत्सव प्रारम्भ हुए कई दिन बीत चुके।' वीरसेन ने महाराज मधु का आमन्त्रण-पत्र पढ़कर सुनाया।

चन्द्राभा जाने क्या सोचती-चुप बैठी रही! फिर बोली-'यह पत्र मैं कई बार पढ़ चुकी। खूब अच्छी तरह पढ़ कर ही तो कह रही हूँ कि मुझे अयोध्या न ले जाओ, न ले जाओ। तुम अकेले जाकर आयोजन में हाथ बटाओ और मेरे लिये क्षमा याचना कर, महाराज को प्रसन्न करलो। नहीं, मैं कहती हूँ, मेरा मन कहता है कि तुम्हें पछताना पड़ेगा-मेरे स्वामी।'

'तुम्हें मेरे पछताने या खुश होने से कोई वास्ता नहीं। मैं कहूँ, उसे मानना तुम्हारा धर्म है। मुझे जब तुम्हारी राय की जरूरत हो, तभी तुम्हें अपनी राय देनी चाहिये। जानती हो, मैं अपने महाराज की-अक्षरशः आज्ञा पालन में आनन्द लेता आया हूँ।'-एक पतिहृदय ने विवाहित स्त्री हृदय पर अपने अधिकार का प्रदर्शन किया।

चन्द्राभा बेबस थी। मौत के आगे संसार की तरह।

बोली-'प्राणाधिक? मुझे अयोध्या नरेश के इस आमन्त्रण में धोखा दिखाई दे रहा है। चाहती हूँ -आप एक बार स्वयं विचार कर देखें। ऐसा न हो कि कुछ गलत हो जाये-आपके दुःख में मुझे सुख न मिल सकेगा-स्वामी।'

वीरसेन असल में चन्द्राभा से देर तक वाद-विवाद करने के कारण कुछ झुंझलाहट से भर गये थे और अब हर बात का उत्तर अपनी अधिकार-सत्ता से देने के लिये कटिबद्ध थे -'मैं बहुत देर से सब बातें सुन रहा हूँ, अब अधिक कुछ सुनने की इच्छा नहीं है। कुछ गलत हो या सही, मैं कह रहा हूँ- जिम्मेदारी उसकी मुझ पर है, तुम पर नहीं। समझती हो ?'

चन्द्राभा की आँखों में आँसू भर आये। हिचकी-सी लेते हुये बोली-'मैं और तुम कभी अभिन्न थे, एक का दु:ख, दूसरे का दु:ख था। आज जुदा-जुदा है।'

वीरसेन ने जमी हुई आवाज में कहा -'हाँ ! तभी तो ? - मैं कहता हूँ और तुम उसे मानने को तैयार नहीं।'

(4)

वसन्तोत्सव की समाप्ति पर-महाराज मधु सभी आगत सज्जनों को दान सम्मान द्वारा सन्तुष्ट कर विदा कर रहे हैं। सभी प्रसन्न मुख, सपत्नीक खुशी-खुशी अपने घर जाते हुए, महाराज से मधुर व्यवहार की, आदर-सम्मान की और देन-दहेज की प्रशंसा करते जाते हैं।

वटकपुर नरेश वीरसेन की बारी आई - सबके अन्त में। भक्ति से गद्‌गद् वीरसेन आगे बढ़े। चन्द्राभा समीप ही थी, थोड़े फासले पर। हृदय उसका धड़क रहा था। न जाने क्यों ?

'अच्छा, आप भी ?' मधु ने कहा।

वीरसेन थोड़े हँस भर दिये सिर्फ।

''ठहरिये न चार छ: दिन और ?''

'आपकी सेवा में हूँ, वहाँ का काम-काज तो देखना ही है।

'जरूर! हाँ, तो ऐसा कीजिए-आप चले जायें, लेकिन रानीजी अभी यहीं रहेंगी। बात यह है,-रानीजी के लिये कुछ खास तौर पर आभूषण बनवाये गये हैं,-उनमें है अभी देर। जैसे ही बनकर आये नहीं कि हम उन्हें स-सम्मान विदा कर देंगे।

वीरसेन चुप रहे।

चिन्ता न कीजिए-उन्हें किसी तरह की तकलीफ न होने पायेगी। आप बेफिक्री के साथ जा सकते हैं - महाराज मधु ने स्पष्ट किया।

'अहह! आपके यहाँ तकलीफ ? मुझे चिन्ता क्या ? तो मैं जा रहा हूँ-इन्हें चार छ: दिन बाद भेज दीजियेगा।' और श्रद्धा से मस्तक झुकाते, हाथ जोड़ते हुए वीरसेन लौटे। चन्द्राभा ने संकेत किया, पास पहुँचे। बोले-'डर की कोई बात नहीं। हीरे का अलंकार बनने में थोड़ा विलम्ब है, बनकर आ जायेंगे, दो-चार दिन में। तब आ जाना। कुछ कष्ट नहीं होगा यहाँ।'

चन्द्राभा रो दी! जाने कब-कब के आँसू रुके पड़े थे। बोली-'स्वामी धोखा खाकर भी तुम्हें ज्ञान नहीं आता। तुम्हें मनुष्य के मन की पहिचान नहीं।

वीरसेन फिर तने!

'फिर वही बात ? महाराज मधु ऐसे नहीं, जैसा तुम ख्याल करती हो। वे एक बड़े राजा हैं।'

आठ दस दिन बीत गये। जब चन्द्राभा न लौटी तो वीरसेन के मन में कुछ शक पैदा हुआ। रह-रहकर उनके कानों में गूँजने लगा -'**तुम्हें मनुष्य होकर भी मनुष्य के मन की पहिचान नहीं।**

क्या मैं सचमुच धोखा खा गया ?

क्या उसने ठीक कहा था ?

क्या मैंने गलती की ?

चारों ओर से जैसे आवाज आई-'हाँ!'

वीरसेन अवाक्!

और तभी चल दिए-बगैर कुछ सोचे समझे-अयोध्या की ओर, हृदय पर आघात जो हुआ था। अनायास वज्र-प्रहार, वह उसे संभालने में असमर्थ हो रहे थे।

अयोध्यावासियों ने देखा-एक पगला, मलिन-वेश, करुणमूर्ति अयोध्या की गलियों में चक्कर काट रहा है। चिल्ला-चिल्लाकर कहता-मैं वटकपुर का राजा हूँ। मेरी रानी चन्द्राभा को अयोध्या के राजा मधु ने मुझसे छीनकर अपनी पटरानी बना लिया है। कोई मेरा न्याय नहीं करता ?

बच्चों का मनोरंजन होता। बूढ़े समझदार कहते-बेचारा ठीक कहता है और कुछ मनचले, पगले को छेड़ते, चिढ़ाते, चन्द्राभा की बातें पूछते । वह जहाँ बैठता, घण्टों बैठा रहता। पागल जो ठहरा, मुसीबत का मारा।

महारानी चन्द्राभा अयोध्या के भव्य प्रासाद की खुली छत पर सो रही थी कि उनकी नींद उचट गई। एक करुण पुकार ने उन्हें

तिलमिला दिया। पुकार हृदय के भीतरी हिस्से से निकल रही थी-

'हाय! चन्द्राभा..... ?'

वह पड़ी न रह सकी। वातायन[1] खोलकर झाँका, देखा-एक दरिद्र-सा, भिखारी-सा, पागल-सा, रोगी-सा व्यक्ति चिल्लाता रोता-कलपता भागा जा रहा है।

पहिचाना- यही तो वटकपुर के राजा वीरसेन थे, उसके पति!

क्या दशा हो गई है उसके बिना ?

कि चन्द्राभा के मुँह से एक चीख निकल ही गई।

वीरसेन रुक गये। देखा-चन्द्राभा महल की छत पर से देख रही है।

और वह दौड़ गए-पागल की तरह।

कुछ दिन बाद, एक दिन-

चन्द्राभा ने सुना कि वीरसेन 'मण्डवी' साधु के आश्रम में संन्यासी हो गये हैं।

(5)

रोज-रोज दवा खाने से जैसे दवा खुराक बन जाती है। उसी तरह पाप पुराना होने पर पुण्य तो नहीं बन जाता लेकिन यह जरूरी है कि उसकी चर्चा नहीं रहती, गिला[2] मिट जाता है, लोग उसे सहसा भूल जाते हैं। स्मृति धुंधली हो जाने से स्वयं पापी भी उसमें कुछ बुराई नहीं देख पाता।.....

कई वर्ष बीत चले। चन्द्राभा पटरानी और महाराज मधु दोनों सुखोपभोग में रहते चले आये। पिछली बातें बिल्कुल भूली

1. खिड़की 2. शिकायत

जा चुकीं हैं। कोई गिला, कोई ग्लानि या वैसी ही कोई चीज कभी किसी के मन में नहीं उठी। वर्षों के लम्बे अन्तराल ने उसकी कटुता को जैसे मिठास में तबदील कर दिया हो।

चन्द्राभा के मन में क्या है, इसे तो कोई नहीं जानता लेकिन वह सदाचरण में एक गृहस्थिन-सी दीखती है। महाराज मधु के साथ जो व्यवहार उसका है, वह पत्नीत्व के आदर्श का द्योतक-सा लगता है।

उस दिन दोपहर होने आया पर महाराज महल में न पधारे। चन्द्राभा भूखी बैठी प्रतीक्षा करती रही। पति से पहले रसोई पा लेना, स्त्री के लिए कलंक जो माना जाता है।

दोपहर ढला पर महाराज न आए, न आए।

वह बैठी रही, भूख उसे लग रही थी, सिर में कुछ-कुछ पीड़ा का अनुभव भी हुआ पर उसे बैठना था, बैठी रही!

तीसरे पहर महाराज महलों में पधारे, कुछ गम्भीर, कुछ थके-माँदे। उच्च आसन पर विराजे, महारानी ने मुस्करा कर सत्कार किया। महाराज भी मुस्कराये, हाथ बढ़ाकर महारानी को समीप बैठाया।

दोनों के मुख-कमल विकासमय थे।

'आज इतने अधिक विलम्ब का कारण क्या है? -जान सकती हूँ क्या?'

'क्यों नहीं। एक जटिल न्याय आ गया था, उसी में देर लग गयी।'

'ऐसा क्या मुकदमा था, जिसका फैसला देते-देते दिन बीत चला। भोजन तक की फिक्र भूल बैठे?'

'एक परस्त्री-सेवन का मामला था। उसका...।'

परस्त्री-सेवन का? आपने उसका क्या किया? सम्मान किया न? - चन्द्राभा ने बात काटकर पूछा।

'सम्मान? पापी का सम्मान होता है कहीं? उसे तो सजा मिलती है-सजा!'

'क्यों?'

तुम बड़ी भोली हो चन्द्राभा! कुछ समझती नहीं। **अरे, परस्त्री- सेवन पाप होता है पाप। बहुत बड़ा पाप। वही उसने किया था। पापी था दुष्ट। न धर्म की ओर देखा, न समाज का ख्याल किया।**

'लेकिन तुम्हें उस पर दया करनी थी, उसे छोड़ देना था।' महाराज हँसे।

'राजनीति तुम जानती नहीं, इसी से कहता हूँ। देखो, दया हर जगह की जाती है पर जहाँ न्याय का सवाल आता है, वहाँ न्याय ही होता है। राजा का फर्ज जो ठहरा। उस कर्त्तव्य से विमुख होकर राजा को नीचा देखना होता है। मान लो, अगर मैं उसे छोड़ देता, तो नतीजा क्या होता? यही कि देखा-देखी परस्त्री-सेवन का पाप बढ़ता चला जाता। लोगों के मन से राज-भय निकल जाता और उस सबके पाप का भागी होता-मैं! पूछो क्यों?'

वीरसेन असल में चन्द्राभा से देर तक वाद-विवाद करने के कारण कुछ झुंझलाहट से भर गये थे और अब हर बात का उत्तर अपनी अधिकार-सत्ता से देने के लिये कटिबद्ध थे -'मैं बहुत देर से सब बातें सुन रहा हूँ, अब अधिक कुछ सुनने की इच्छा नहीं है। कुछ गलत हो या सही, मैं कह रहा हूँ- जिम्मेदारी उसकी मुझ पर है, तुम पर नहीं। समझती हो ?'

चन्द्राभा की आँखों में आँसू भर आये। हिचकी-सी लेते हुये बोली-'मैं और तुम कभी अभिन्न थे, एक का दु:ख, दूसरे का दु:ख था। आज जुदा-जुदा है।'

वीरसेन ने जमी हुई आवाज में कहा -'हाँ ! तभी तो ? - मैं कहता हूँ और तुम उसे मानने को तैयार नहीं।'

(4)

वसन्तोत्सव की समाप्ति पर-महाराज मधु सभी आगत सज्जनों को दान सम्मान द्वारा सन्तुष्ट कर विदा कर रहे हैं। सभी प्रसन्न मुख, सपत्नीक खुशी-खुशी अपने घर जाते हुए, महाराज से मधुर व्यवहार की, आदर-सम्मान की और देन-दहेज की प्रशंसा करते जाते हैं।

वटकपुर नरेश वीरसेन की बारी आई - सबके अन्त में। भक्ति से गद्‌गद् वीरसेन आगे बढ़े। चन्द्राभा समीप ही थी, थोड़े फासले पर । हृदय उसका धड़क रहा था। न जाने क्यों ?

'अच्छा, आप भी ?' मधु ने कहा।

वीरसेन थोड़े हँस भर दिये सिर्फ ।

''ठहरिये न चार छः दिन और ?''

'आपकी सेवा में हूँ, वहाँ का काम-काज तो देखना ही है।

'जरूर! हाँ, तो ऐसा कीजिए-आप चले जायें, लेकिन रानीजी अभी यहीं रहेंगी। बात यह है,-रानीजी के लिये कुछ खास तौर पर आभूषण बनवाये गये हैं,-उनमें है अभी देर। जैसे ही बनकर आये नहीं कि हम उन्हें स-सम्मान विदा कर देंगे।

वीरसेन चुप रहे।

चिन्ता न कीजिए-उन्हें किसी तरह की तकलीफ न होने पायेगी। आप बेफिक्री के साथ जा सकते हैं - महाराज मधु ने स्पष्ट किया।

'अहह! आपके यहाँ तकलीफ ? मुझे चिन्ता क्या ? तो मैं जा रहा हूँ-इन्हें चार छः दिन बाद भेज दीजियेगा।' और श्रद्धा से मस्तक झुकाते, हाथ जोड़ते हुए वीरसेन लौटे। चन्द्राभा ने संकेत किया, पास पहुँचे। बोले-'डर की कोई बात नहीं। हीरे का अलंकार बनने में थोड़ा विलम्ब है, बनकर आ जायेंगे, दो-चार दिन में। तब आ जाना। कुछ कष्ट नहीं होगा यहाँ।'

चन्द्राभा रो दी! जाने कब-कब के आँसू रुके पड़े थे। बोली-'स्वामी धोखा खाकर भी तुम्हें ज्ञान नहीं आता। तुम्हें मनुष्य के मन की पहिचान नहीं।

वीरसेन फिर तने!

'फिर वही बात ? महाराज मधु ऐसे नहीं, जैसा तुम ख्याल करती हो । वे एक बड़े राजा हैं।'

आठ दस दिन बीत गये। जब चन्द्राभा न लौटी तो वीरसेन के मन में कुछ शक पैदा हुआ। रह-रहकर उनके कानों में गूँजने लगा -'**तुम्हें मनुष्य होकर भी मनुष्य के मन की पहिचान नहीं।**

क्या मैं सचमुच धोखा खा गया ?

क्या उसने ठीक कहा था ?

क्या मैंने गलती की ?

चारों ओर से जैसे आवाज आई-'हाँ!'

वीरसेन अवाक्!

और तभी चल दिए-बगैर कुछ सोचे समझे-अयोध्या की ओर, हृदय पर आघात जो हुआ था। अनायास वज्र-प्रहार, वह उसे संभालने में असमर्थ हो रहे थे।

अयोध्यावासियों ने देखा-एक पगला, मलिन-वेश, करुणमूर्ति अयोध्या की गलियों में चक्कर काट रहा है। चिल्ला-चिल्लाकर कहता-मैं वटकपुर का राजा हूँ। मेरी रानी चन्द्राभा को अयोध्या के राजा मधु ने मुझसे छीनकर अपनी पटरानी बना लिया है। कोई मेरा न्याय नहीं करता ?

बच्चों का मनोरंजन होता। बूढ़े समझदार कहते-बेचारा ठीक कहता है और कुछ मनचले, पगले को छेड़ते, चिढ़ाते, चन्द्राभा की बातें पूछते । वह जहाँ बैठता, घण्टों बैठा रहता। पागल जो ठहरा, मुसीबत का मारा।

महारानी चन्द्राभा अयोध्या के भव्य प्रासाद की खुली छत पर सो रही थी कि उनकी नींद उचट गई। एक करुण पुकार ने उन्हें

तिलमिला दिया। पुकार हृदय के भीतरी हिस्से से निकल रही थी-

'हाय! चन्द्राभा..... ?'

वह पड़ी न रह सकी। वातायन[1] खोलकर झाँका, देखा-एक दरिद्र-सा, भिखारी-सा, पागल-सा, रोगी-सा व्यक्ति चिल्लाता रोता-कलपता भागा जा रहा है।

पहिचाना- यही तो वटकपुर के राजा वीरसेन हैं, उनकी रानी

क्या दशा हो गई है उसके बिना ?

कि चन्द्राभा के मुँह से एक चीख निकल ही गई।

वीरसेन रुक गये। देखा-चन्द्राभा महल की छत पर से देख रही है।

और वह दौड़ गए-पागल की तरह।

कुछ दिन बाद, एक दिन-

चन्द्राभा ने सुना कि वीरसेन 'मण्डवी' साधु के आश्रम में संन्यासी हो गये हैं।

(5)

रोज-रोज दवा खाने से जैसे दवा खुराक बन जाती है। उसी तरह पाप पुराना होने पर पुण्य तो नहीं बन जाता लेकिन यह अच्छी है कि उसकी चर्चा नहीं रहती, गिला[2] मिट जाता है, लोग उसे सहना भूल जाते हैं। स्मृति धुंधली हो जाने से स्वयं पापी भी उसमें कुछ बुराई नहीं देख पाता।.....

कई वर्ष बीत चले। चन्द्राभा पटरानी और महाराज मधु दोनों सुखोपभोग में रहते चले आये। पिछली बातें बिल्कुल भूली

1. खिड़की 2. शिकायत

आठ दस दिन बीत गये। जब चन्द्राभा न लौटी तो वीरसेन के मन में कुछ शक पैदा हुआ। रह-रहकर उनके कानों में गूँजने लगा -'**तुम्हें मनुष्य होकर भी मनुष्य के मन की पहिचान नहीं।**

क्या मैं सचमुच धोखा खा गया ?

क्या उसने ठीक कहा था ?

क्या मैंने गलती की ?

चारों ओर से जैसे आवाज आई-'हाँ!'

वीरसेन अवाक्!

और तभी चल दिए-बगैर कुछ सोचे समझे-अयोध्या की ओर, हृदय पर आघात जो हुआ था। अनायास वज्र-प्रहार, वह उसे संभालने में असमर्थ हो रहे थे।

अयोध्यावासियों ने देखा-एक पगला, मलिन-वेश, करुणमूर्ति अयोध्या की गलियों में चक्कर काट रहा है। चिल्ला-चिल्लाकर कहता-मैं वटकपुर का राजा हूँ। मेरी रानी चन्द्राभा को अयोध्या के राजा मधु ने मुझसे छीनकर अपनी पटरानी बना लिया है। कोई मेरा न्याय नहीं करता ?

बच्चों का मनोरंजन होता। बूढ़े समझदार कहते-बेचारा ठीक कहता है और कुछ मनचले, पगले को छेड़ते, चिढ़ाते, चन्द्राभा की बातें पूछते । वह जहाँ बैठता, घण्टों बैठा रहता। पागल जो ठहरा, मुसीबत का मारा।

महारानी चन्द्राभा अयोध्या के भव्य प्रासाद की खुली छत पर सो रही थी कि उनकी नींद उचट गई। एक करुण पुकार ने उन्हें

तिलमिला दिया। पुकार हृदय के भीतरी हिस्से से निकल रही थी-

'हाय! चन्द्राभा..... ?'

वह पड़ी न रह सकी। वातायन[1] खोलकर झाँका, देखा-एक दरिद्र-सा, भिखारी-सा, पागल-सा, रोगी-सा व्यक्ति चिल्लाता रोता-कलपता भागा जा रहा है।

पहिचाना- यही तो वटकपुर के राजा वीरसेन थे, उसके पति!

क्या दशा हो गई है उसके बिना ?

कि चन्द्राभा के मुँह से एक चीख निकल ही गई।

वीरसेन रुक गये। देखा-चन्द्राभा महल की छत पर से देख रही है।

और वह दौड़ गए-पागल की तरह।

कुछ दिन बाद, एक दिन-

चन्द्राभा ने सुना कि वीरसेन 'मण्डवी' साधु के आश्रम में संन्यासी हो गये हैं।

(5)

रोज-रोज दवा खाने से जैसे दवा खुराक बन जाती है। उसी तरह पाप पुराना होने पर पुण्य तो नहीं बन जाता लेकिन यह जरूरी है कि उसकी चर्चा नहीं रहती, गिला[2] मिट जाता है, लोग उसे सहसा भूल जाते हैं। स्मृति धुंधली हो जाने से स्वयं पापी भी उसमें कुछ बुराई नहीं देख पाता।.....

कई वर्ष बीत चले। चन्द्राभा पटरानी और महाराज मधु दोनों सुखोपभोग में रहते चले आये। पिछली बातें बिल्कुल भूली

1. खिड़की 2. शिकायत

जा चुकीं हैं। कोई गिला, कोई ग्लानि या वैसी ही कोई चीज कभी किसी के मन में नहीं उठी। वर्षों के लम्बे अन्तराल ने उसकी कटुता को जैसे मिठास में तबदील कर दिया हो।

चन्द्राभा के मन में क्या है, इसे तो कोई नहीं जानता लेकिन वह सदाचरण में एक गृहस्थिन-सी दीखती है। महाराज मधु के साथ जो व्यवहार उसका है, वह पत्नीत्व के आदर्श का द्योतक-सा लगता है।

उस दिन दोपहर होने आया पर महाराज महल में न पधारे। चन्द्राभा भूखी बैठी प्रतीक्षा करती रही। पति से पहले रसोई पा लेना, स्त्री के लिए कलंक जो माना जाता है।

दोपहर ढला पर महाराज न आए, न आए।

वह बैठी रही, भूख उसे लग रही थी, सिर में कुछ-कुछ पीड़ा का अनुभव भी हुआ पर उसे बैठना था, बैठी रही!

तीसरे पहर महाराज महलों में पधारे, कुछ गम्भीर, कुछ थके-माँदे। उच्च आसन पर विराजे, महारानी ने मुस्करा कर सत्कार किया। महाराज भी मुस्कराये, हाथ बढ़ाकर महारानी को समीप बैठाया।

दोनों के मुख-कमल विकासमय थे।

'आज इतने अधिक विलम्ब का कारण क्या है? -जान सकती हूँ क्या?'

'क्यों नहीं। एक जटिल न्याय आ गया था, उसी में देर लग गयी।'

'ऐसा क्या मुकदमा था, जिसका फैसला देते-देते दिन बीत चला। भोजन तक की फिक्र भूल बैठे?'

'एक परस्त्री-सेवन का मामला था। उसका...।'

परस्त्री-सेवन का? आपने उसका क्या किया? सम्मान किया न? - चन्द्राभा ने बात काटकर पूछा।

'सम्मान? पापी का सम्मान होता है कहीं? उसे तो सजा मिलती है-सजा!'

'क्यों?'

तुम बड़ी भोली हो चन्द्राभा! कुछ समझती नहीं। **अरे, परस्त्री- सेवन पाप होता है पाप। बहुत बड़ा पाप। वही उसने किया था। पापी था दुष्ट। न धर्म की ओर देखा, न समाज का ख्याल किया।**

'लेकिन तुम्हें उस पर दया करनी थी, उसे छोड़ देना था।' महाराज हँसे।

'राजनीति तुम जानती नहीं, इसी से कहता हूँ। देखो, दया हर जगह की जाती है पर जहाँ न्याय का सवाल आता है, वहाँ न्याय ही होता है। राजा का फर्ज जो ठहरा। उस कर्त्तव्य से विमुख होकर राजा को नीचा देखना होता है। मान लो, अगर मैं उसे छोड़ देता, तो नतीजा क्या होता? यही कि देखा-देखी परस्त्री-सेवन का पाप बढ़ता चला जाता। लोगों के मन से राज-भय निकल जाता और उस सबके पाप का भागी होता-मैं! पूछो क्यों?'

'क्यों ?' -चन्द्राभा ने पूछ लिया।

'इसलिए कि मैं राजा हूँ। राजा के ऊपर ही सारे राज्य की जिम्मेदारी होती है। प्रजा को ठीक रास्ते पर चलाना राजा के कर्त्तव्य का अङ्ग है। पापी, दुष्ट, अधर्मी, अन्यायी, दुराचारी सबको कड़ी से कड़ी सजा देकर राज्य की शासन-व्यवस्था को ठीक तौर पर कायम रखना उसका जरूरी काम है।'

'तो ? तो परस्त्री-सेवन पाप होता है ! क्यों ?'

'और नहीं तो क्या ?'

'तो तुमने इसीलिए उसे सजा दी।'

'हाँ !'

'लेकिन वह गरीब रहा होगा कोई ? है न यही बात ?'

'नहीं ! वह गरीब नहीं, अच्छा-खासा पैसे वाला था।'

'ऐं ? पैसे वालों को भी सजा होती है।'

'क्यों नहीं ! कानून सबके लिए एक होता है। कोई राजा हो या रंक। जो पाप करेगा, अवश्य सजा पायेगा। कानून के लिए गरीब- अमीर का सवाल बेकार है।'

'पर, ऐसा देखने में तो नहीं आया... ।' चन्द्राभा ने मुस्कराते हुए कहा।

'कैसा ?'- महाराज मधु ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा।

'ऐसा ही, कि किसी राजा ने परस्त्री-सेवन किया और उसे सजा मिली हो।'

'लेकिन मैंने तो ऐसा नहीं सुना। राजा अन्याय करते हैं तो उसका प्रतिफल उन्हें भोगना ही पड़ता है। कानून जो सबको एक है।'

'आपने सुना नहीं पर देखा जरूर है लेकिन आज भूल रहे हैं। बड़े लोगों में भूल जाने की आदत जो होती है। आपका दोष नहीं।'

महाराज का मन डूब-सा गया। घबराकर बोले-'कह क्या रही हो चन्द्राभा ?'

'यही कह रही थी कि **अपनी ओर भी आप जरा झाँकें। आपने भी पर-स्त्री-सेवन किया, पाप किया है। क्या आपने मुझे अपनी स्त्री समझ रखा है? क्या आपने मेरे भोले, स्वामिभक्त पति के साथ दगा कर मुझे नहीं लूटा था ? तब आपका कानून- राजा-रंक की दुहाई देने वाला कानून-कहाँ गया था ? आपने आँखों से देखा-मेरा पति मेरे विरह में पागल होकर, मारा-मारा फिरा-न्याय का दामन फैलाये हुए। मगर राजसत्ता के आगे उसका क्या वश ?'**

मधु नत मस्तक बैठे रहे, अपराधी की तरह। सोच रहे थे- धरती फट जाए तो मैं उसमें समा जाऊँ।

दो बूँद आँसू बहाते हुए, रुँधे कण्ठ से बोले-'चन्द्राभा ! मुझे क्षमा कर दो। बहुत बड़ा पाप किया है-मैंने।'

दूसरे दिन सुबह अयोध्या का राजा मधु और वटकपुर-नरेश की रानी चन्द्राभा दोनों परम तपस्वी दिगम्बर-साधु के निकट भगवती- दीक्षा की याचना कर रहे थे, माया मोह से विरक्त !

पर नारी पैनी छुरी, तीन ठौर सौं खाय।
धन छीनै, यौवन हरै, मरे नरक ले जाय।।

जितना अन्तर
अन्धकार और प्रकाश में है,
जमीन और आसमान में है,
सम्भवतः
उतना ही अन्तर
'आज' और-
'उस दिन' में है।
आज धन भोग, लिप्सा,
और स्वार्थहित है,
जबकि -
'उस दिन'
यह बात नहीं थी।

3. उस दिन

स्वच्छ-आकाश! शरीर को सुखद-धूप! नगर से दूर रम्य- प्राकृतिक, पथिकों के पद-चिह्न से बनने वाला गैर-कानूनी मार्ग, पगडण्डी! इधर-उधर धान्य-उत्पादक, हरे-भरे तथा अंकुरित- खेत! जहाँ-तहाँ अनवरत परिश्रम के आदी, विश्व के अन्न-दाता कृषक! .....कार्य में संलग्न और सरस तथा मुक्त-छन्द की तानें अलापने में व्यस्त! सघन वृक्षों की छाया में विश्राम लेने वाले-सुन्दर, मधु-भाषी पशु-पक्षियों के जोड़े!

श्रवन-प्रिय, मधु-स्वर से निनादित वायु-मण्डल !.....और समीर की प्राकृतिक आनन्द-दायक झंकृति!!!.....

महामानव धन्यकुमार चला जा रहा था, उसी पगडण्डी पर! प्रकृति की रूप भंगिमा को निरखता, प्रसन्न और मुदित होता हुआ! क्षण-प्रति-क्षण जिज्ञासाएँ बढ़ती चलती! हृदय चाहता-'विश्व की समस्त ज्ञातव्यताएँ उसमें समा जाएँ! सभी कला कौशल्य उसमें प्रेम करने लगें!.....' नया खून जो ठहरा! सुख और दुलार की गोद में पोषण पाने वाला!

सामने के खेत में हल चलाया जा रहा था!..... ठिठक कर रुक गया, देखने लगा, कृषक-कला का आवश्यक प्रयोग! हलवाहक अपनी धुन में मस्त! उसे पता नहीं, कोई देख रहा है या कोई है? जरूरत भी क्या?

कुछ देर खड़ा रहा! लालायित-दृष्टि को स्वतन्त्र किये हुए अचल, मन्त्र-मुग्ध या रेखांकित चित्र की भाँति!.....

अचानक हलवाहक की दृष्टि पड़ी-नरपुंगव धन्यकुमार पर! कैसा प्यारा सुहावना-मुँह!..... सुदर्शन! मन में एक स्फूर्ति-सी पैदा हुई, उमंग-सी पनपी !इच्छा हुई -

'कुछ बातें की जाएँ, सत्कार किया जाए!'..... अपरिचित है तो क्या? है तो प्रभावशाली?.....

विचारों का संघर्ष!

धन्यकुमार ने देखा, हलवाहक प्रेमपूर्ण-नेत्रों से उसकी ओर देख रहा है! उसकी मजबूत-भुजाएँ शिथिल-सी

होती जा रही हैं! परिश्रम से विरक्त-सा, ठगा-सा वह ज्यों का त्यों खड़ा रह गया है!...

दो कदम आगे बढ़कर वह कहने लगा-मन की अभिलाषा-'क्या यह कला मुझे सिखा सकते हो?'

..... फूल से झड़े! उसने अनुभव किया स्वर्गीय-सुख! बात कर सकने का अवसर उसे स्वतः ही मिला! अविलम्ब, यथासाध्य स्वर को मृदु बनाते हुए बोला-'हाँ, हाँ! अवश्य .....! लेकिन एक शर्त है.... !'

दरिद्रता ने बात पूरी करने का साहस छीन लिया! हृदय विवश! धन्यकुमार क्षण-भर चुप, देखता-भर रहा उसकी ओर! शर्त सुनना उसके लिए अब अनिवार्य था-कलाकार जो बनना था! बोला-'क्या ?'

हलवाहक को प्रोत्साहन मिला! बचे-खुचे धैर्य को बटोर कर कहने लगा-' ..... यही कि आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करें? मैं भी उच्च-वर्ण-श्रावक-ही हूँ !.....'

और देखने लगा-संशयात्मक दृष्टि से धन्यकुमार के भव्य-मुख की तरफ! जैसे अपनी आन्तरिकता की पूर्ति खोज रहा हो!..

एक छोटी-सी नीरवता।

चाहा कि आतिथ्य को अस्वीकार कर दें! लेकिन कला-शिक्षण का लोभ ..... ?-कहना पड़ा-'स्वीकार है मित्र!'

'आप विराजिए-जरा! मैं पात्र बनाने के लिए पल्लव[1] एकत्रित कर लाऊँ, तब एक!' हलवाहक ने बैठने-योग्य स्थान की ओर संकेत करते हुए, स-भक्ति निवेदन किया!

1. पत्ते

'अच्छा!' धन्यकुमार बैठ गया! भोजन भार मालूम हो रहा था और विलम्ब असहनीय! पर विवशता सामने अड़ी थी! लेकिन दृष्टि थी हल बैल पर!.....

हलवाहक चला गया! धन्यकुमार बैठा रहा, कुछ देर! इच्छा पर काबू किये हुए! किन्तु विचार आया-'व्यर्थ बैठने से क्या लाभ? तब तक हल चलाने का अभ्यास किया जाय तो कैसा? .....खाली पड़ा है वह !'

हृदय की उत्कण्ठा ने प्रस्ताव का समर्थन किया! वह आगे बढ़ा! हल चलाने लगा!...

टिख ! टिख !! टिख !!!

हलवाहक का सर्वाङ्ग अनुसरण था? निरपराध पृथ्वी का वक्षस्थल विदीर्ण होने लगा? हल में लगा हुआ नुकीला-लोह करने लगा अपनी निर्दयता का सफल प्रदर्शन?

बैल नवीन हलवाहक के संरक्षकत्व में चार-छह कदम ही आगे बढ़े थे, कि ..... ?

ठक... ?

रुक गया हल?....क्या हुआ?..... धन्यकुमार देखने लगा- हल के रुकने का आकस्मिक-सबब ?

देखा-'पृथ्वी के गर्भ में एक कढ़ाह, दानव की तरह हल के मार्ग में बाधक बना अड़ा हुआ है!

खोद कर निकाल बाहर करने के विचार से वह मिट्टी हटाने लगा-नवनीत जैसे कोमल हाथों से?....पर ..... ?

आश्चर्य-सीमा लाँघने लगा? कढ़ाह में अपार धन-राशि भरी हुई थी? .....सोचने लगा भोला-सा धन्यकुमार- .....अनधिकार चेष्टा थी वेसी? बिना उसकी आज्ञा के हल छूना ही नहीं चाहिए था मुझे? छिपाकर रखा हुआ धन, मैंने व्यक्त कर दिया? अवश्य, असन्तुष्ट होगा वह?'

पश्चात्ताप से झुलसे हुए मन ने तिलमिला दिया उसे? जल्दी-जल्दी मिट्टी डालकर छिपाने लगा? और जैसे का तैसा कर, आ- बैठा अपने स्थान पर?

जैसे कुछ हुआ ही नहीं?

अपने स्थान से हटा ही नहीं!!

दोनों बैठे? दरिद्रता द्वारा सुलभ रूखे-सूखे किन्तु प्रेमपूर्ण भोजन के लिए? दोनों खा रहे थे मौन? विचार धाराएँ शतलज[1] की भाँति वेगवती हो बह रही थीं। विपरीत, एक-दूसरी से?

हलवाह सोच रहा था-आज का दिन धन्य है? एक महा-पुरुष के साथ भोजन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है?

और उधर-'मैं अपराधी हूँ? उसके धन को मैंने देख लिया, भूल की न?..... अभी उसे पता नहीं है? पता होने पर.....! बस, खा-पीकर चल देना ही ठीक है अब! फिर देखा जायेगा- कला का शिक्षण.....!'

हलवाहक चाहता-'जिन्दगी-भर इसी तरह खाते रहें!' वियोग न आए! और धन्यकुमार सोचता-'कब खाना खत्म हो, कब छुट्टी मिले!'

1. सतलुज नदी

भोजन हो चुकने पर प्रसन्नता-भरे स्वर में हलवाहक बोला- 'आपने मेरी प्रार्थना का आदर किया! अब मैं भी कला सिखाने के लिए उद्यत हूँ!..... आइए!'

धन्यकुमार घोर संकट में! क्या करें अब? घबराकर बोला- 'बात यह है, मुझे अब जल्दी है। पहुँचना भी तो है! फिर कभी सीख लूँगा!'

और चलने लगा अपने पथ पर हलवाहक रहस्य से अनभिज्ञ! निर्निमेष देखता हुआ, बोला-'ऐसा क्यों!'

धन्यकुमार दस-बारह कदम आगे जा चुका था? वहीं से घूमकर बोला-'जा रहा हूँ अब!' और हाथ जोड़ लिए!

हलवाहक का जैसे आशा-स्वप्न भागा जा रहा हो! हाथ-जोड़े, जब तक धन्यकुमार दृष्टि से ओझल न हो गया, खड़ा रहा।

फिर..... ..?

निराशा, अन्यमनस्क लिए आ गया अपने काम पर!

टिख! टिख!!

बैल बढ़े कि-'ठक्' अटक गया कुछ! मजबूत हाथों ने मिट्टी हटाकर देखा-धन से भरा हुआ कढ़ाह!

दरिद्र-श्रमी की आँखें चौंधियाने लगी-इतना धन?....

सोचने लगा-'यह उसी महाभाग्य के चमत्कार का द्रव्य है! मेरा क्या है इसमें?.....अगर मेरा होता तो पूर्वज जोतते आए, मैंने जब से होश सम्हाला कभी एक पैसा नहीं निकला! आज इतना धन!.....न, मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं, उसी का है! उसे ही दे देना मेरा कर्त्तव्य!'

आश्चर्य-सीमा लाँघने लगा ? कढ़ाह में अपार धन-राशि भरी हुई थी ? .....सोचने लगा भोला-सा धन्यकुमार- '.....अनधिकार चेष्टा थी मेरी ? बिना उसकी आज्ञा के हल छूना ही नहीं चाहिए था मुझे ? छिपाकर रखा हुआ धन, मैंने व्यक्त कर दिया ? अवश्य, असन्तुष्ट होगा वह ?'

पश्चाताप से झुलसे हुए मन ने तिलमिला दिया उसे ? जल्दी-जल्दी मिट्टी डालकर छिपाने लगा ? और जैसे का तैसा कर, आ- बैठा अपने स्थान पर ?

जैसे कुछ हुआ ही नहीं ?

अपने स्थान से हटा ही नहीं !!

दोनों बैठे ? दरिद्रता द्वारा सुलभ रूखे-सूखे किन्तु प्रेमपूर्ण भोजन के लिए ? दोनों खा रहे थे मौन ? विचार धाराएँ शतलज[1] की भाँति वेगवती हो बह रही थीं। विपरीत, एक-दूसरी से ?

हलवाह सोच रहा था-आज का दिन धन्य है ? एक महा-पुरुष के साथ भोजन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है ?

और उधर-'मैं अपराधी हूँ ? उसके धन को मैंने देख लिया, भूल की न ?..... . अभी उसे पता नहीं है ? पता होने पर.....! बस, खा-पीकर चल देना ही ठीक है अब ! फिर देखा जायेगा- कला का शिक्षण.... .!'

हलवाहक चाहता-'जिन्दगी-भर इसी तरह खाते रहें !' वियोग न आए ! और धन्यकुमार सोचता-'कब खाना खत्म हो, कब छुट्टी मिले !'

1. सतलुज नदी

भोजन हो चुकने पर प्रसन्नता-भरे स्वर में हलवाहक बोला- 'आपने मेरी प्रार्थना का आदर किया ! अब मैं भी कला सिखाने के लिए उद्यत हूँ ! ..... आइए !'

धन्यकुमार घोर संकट में ! क्या करें अब ? घबराकर बोला- 'बात यह है, मुझे अब जल्दी है। पहुँचना भी तो है ! फिर कभी सीख लूँगा !'

और चलने लगा अपने पथ पर हलवाहक रहस्य से अनभिज्ञ ! निर्निमेष देखता हुआ, बोला-'ऐसा क्यों !'

धन्यकुमार दस-बारह कदम आगे जा चुका था ? वहीं से घूमकर बोला-'जा रहा हूँ अब !' और हाथ जोड़ लिए !

हलवाहक का जैसे आशा-स्वप्न भागा जा रहा हो ! हाथ-जोड़े, जब तक धन्यकुमार दृष्टि से ओझल न हो गया, खड़ा रहा।

फिर..... .. ?

निराशा, अन्यमनस्क लिए आ गया अपने काम पर !

टिख ! टिख !!

बैल बढ़े कि-'ठक्' अटक गया कुछ ! मजबूत हाथों ने मिट्टी हटाकर देखा-धन से भरा हुआ कढ़ाह !

दरिद्र-श्रमी की आँखें चौंधियाने लगी-इतना धन ?....

सोचने लगा-'यह उसी महाभाग्य के चमत्कार का द्रव्य है ! मेरा क्या है इसमें ? .....अगर मेरा होता तो पूर्वज जोतते आए, मैंने जब से होश सम्हाला कभी एक पैसा नहीं निकला ! आज इतना धन ! .....न, मेरा इस पर कोई अधिकार नहीं, उसी का है ! उसे ही दे देना मेरा कर्त्तव्य !'

..... और वह भागा, बे-तहासा[1], उसे लौटाने के लिए!

मन, आशंका में उलझा हुआ था न? भय भी था अपराध का! यदि पंख होते तो वह कहाँ-का-कहाँ पहुँचा होता! तो भी उसने गति में सामर्थ्यानुसार वृद्धि की थी! मुड़-मुड़ कर देखता जाता-'कहीं आ तो नहीं रहा!'

बहुत दूर निकल गया! भयाकुल-चित्त धन्यकुमार! विश्वास जम गया कि 'अब आयेगा नहीं!'

लेकिन 'विश्वास' का धरातल बालू की दीवार की तरह अस्थायी निकला। कानों ने सुना, आँखों ने देखा, वह पुकारता हुआ भागता हुआ आ रहा है! सच, चला आ रहा है इसी ओर!

धन्यकुमार का होश गाफिल! सारा शरीर पत्ते की भाँति काँप उठा! रुक गया जहाँ का तहाँ!

वह आया!

धन्यकुमार ने समझा जैसे उसका अन्त-समय है, काल सामने खड़ा है! पर, इसके मुँह पर रौद्रता यों नहीं! वही दीन-भाव, वही श्रद्धा-दृष्टि!!

'आप लौट चलिए! आपका धन वहाँ रह गया है, उसे ले आइए?'

'मेरा धन.....।'

'हाँ? आपका ही....।'

'मेरे पास तो शरीर पर इन वस्त्रों के अतिरिक्त और कुछ भी न था?'

1. बहुत अधिक तेजी से

'ठीक है? लेकिन वह कढ़ाह-जो खेत की मिट्टी के नीचे दबा निकला है-आपके भाग्य चमत्कार का ही प्रसाद है!'

'वह मेरा नहीं है-भाई! तुम्हारे खेत में जो कुछ है, सब तुम्हारा है?'

'यह नहीं मान सकता मैं! अगर मेरा होता, तो आज ही न निकल कर पूर्वजों के सामने निकलता या मैं इतने दिनों से इसे जोत रहा हूँ? ..... पहिले भी निकल सकता! मगर... आप विश्वास कीजिए.....कभी एक कौंड़ी नहीं निकली! धन आपका है, आप उसके मालिक! मेरे लिए मिट्टी! चलिये!'

'मैंने कहा न, धन मेरा नहीं है! मैं उसके विषय में कुछ नहीं जानता!'

'न जानिए! पर उसे हटा लीजिए! मेरे ऊपर से व्यर्थ का भार उठे!'

'लेकिन वह मेरा हो तब न?'

'धन आपका, और फिर आपका! आप कैसी बातें कर रहे हैं?'

'भाई! धन तुम्हारा है मेरा नहीं!'

'मेरा? जिसने दरिद्रता की गोद में बैठ कर जिन्दगी बिताई! इतनी उम्र हुई, इतना धन स्वप्न में भी नहीं देखा! दरिद्रता का उपहास कर रहे हैं आप!'

बात, धन्यकुमार के मन में शूल-सी चुभी! बोला-'अच्छा, मेरा ही सही! लेकिन मैं अब उसे तुम्हें देता हूँ! प्रेम मानते हो तो स्वीकार करो उसे!'

हलवाहक के अधरों में स्पन्दन हुआ, कुछ शब्द-कण्ठ से बाहर आने के लिए उद्यत हुए! पर वह बोल न सका। चुप रह गया!

गरीबी जीवन का अभिशाप जरूर है,
लेकिन,
अमीरी से मनुष्यता की मात्रा
कहीं ज्यादा है उसमें।
प्रेम की गहराई तक
जितना गरीब पहुँचता है,
उतना अमीर नहीं।
प्रेम वे भी करते हैं,
सिर्फ एक चीज से,
और वह चीज होती है-
'पैसा'

4. पत्थर का टुकड़ा

गरीबों की दुनिया में मनुष्य, मनुष्य से प्रेम करता है, प्राणी, प्राणी पर तरस खाता है, झुकने में उसे शर्म नहीं आती। हो सकता है, पैसे का अभाव ही उसे दूसरों से प्रेम करने के लिए प्रेरित करता हो। पर इतना अवश्य है, गरीबी की नरमाई जहाँ उसे विवेक, सदाचार और कर्त्तव्य की ओर ले जाती है, वहाँ अमीर का अर्थ उसे मदान्धता, पशुता और स्वार्थ की ओर ढकेलता है।

वह दोनों थे गरीब! परेशानियों और अभावों के बीच, जीवित बचे हुए थे, यही गनीमत थी। बड़ा प्रेम था दोनों में बड़े का नाम था अहिदेव और छोटे का महिदेव।

माँ थी और बहिन! पिता का शरीरान्त हो चुका था। परिवार-संचालन का भार इन्हीं के साधन-हीन कन्धों पर आ पड़ा था।

कुछ दिन कटे, जिस तरह गरीबों के कटा करते हैं- किसी दिन आधा पेट, किसी दिन लंघन। वह शुभ दिन समझा जाता, जिस दिन दोनों वक्त दाँतों के नीचे कुछ चबाने के लिए पड़ता।

दोनों विदेश चले, किसी अमीर की गुलामी का तमगा[1] पहिन कर! थोड़े से अरमान और थोड़ी-सी आवश्यकताओं का बोझ लेकर!

जहाज खुल गया। समुद्र की छाती को रौंदता हुआ जहाज बढ़ा अथाह जल-राशि को आलोड़ित करता हुआ-विदेश की ओर! उस ओर- जहाँ अमीर की आर्थिक समस्या का हल था।

दोनों ने एक बार भीगी हुई पलकों और नहाती हुई पुतलियों से देखा-अपने स्वदेश की ओर! ...पेड़ ....पौधे ...खेत.....! झोपड़ियाँ और गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ-जैसे सब, उन्हें बुला रहे हों!.....

छाती भर आई! महिदेव ने दिल की भरी आवाज में धीरे-से कहा-

'भैया?'

भैया का जैसे धैर्य छूट गया और फिर दोनों रो उठे-बच्चों की तरह।

जहाज डगमगाता हुआ बढ़ा जा रहा था-अपने पथ पर।

कई पतझड़ देखने के बाद बसन्त देखने का मौका मिला, तो दोनों मुदित हो उठे।.....

1. पदक, मैंडल

ठीक श्रम-जीवियों की भाँति, कठोर परिश्रम के द्वारा वे इस योग्य हो सके कि खा-पीकर चार पैसे बचावें। पिछले दिन कैसे बिताये, कितना क्या किया है धनोपार्जन के लिए ?-यह उन दोनों के हृदय जानते हैं, या जानते हैं वे शरीर जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक मशीन की तरह गतिशील रहा करते हैं, जिन्हें रात का विश्राम भी ताजा(फ्रेश) बनाने में लाचार रहा है।

धीरे-धीरे पैसा बढ़ा और एक दिन इतना हो गया कि दोनों को उस पर विचार करने की जरूरत महसूस हुई।

देर तक सोचते-समझते रहे । आखिर तय हुआ कि इतने पैसे का एक बहुमूल्य रत्न खरीदा जाये और उसे लेकर स्वदेश लौटा जाये, महीनों से याद जो सता रही है-कभी घर की, कभी शहर की। पेट की ज्वाला शान्त होने और गाँठ में कुछ धन इकट्ठा होने के बाद से कौन-सा दिन ऐसा हुआ है, जिस दिन स्वप्न में माँ-बहिन को न देखा हो-दोनों ने ।

यही तो होता है। पेट भरा कि आवश्यकताएँ आईं-सामने।

और फिर जितना ही उन पर ध्यान दो, वे बढ़ती चली जाती हैं- खुजली की तरह।

पैसा हो तो, विचार को क्रियात्मक बनते क्या देर लगती है ? दूसरे ही दिन अहिदेव की मुट्ठी में एक रत्न था, झलझल करता हुआ जैसे दरिद्रता पर हँस रहा हो।

दोनों प्रसन्न !

आज वे सम्पन्न जो थे। नीचे से ऊपर चढ़ने पर सुख तो मिलता ही है। उन्हें मिला तो क्या अचरज ?

रत्न अहिदेव के पास है, जो बड़ा भाई है और वह सोच रहा है- 'कितना सुन्दर है यह! काफी रकम इसे पाने में खर्च हुई, कितनी मेहनत से कमाया पैसा इस पर न्यौछावर किया है। पर, चीज के देखते कुछ ज्यादा नहीं गया परन्तु..... एक दिक्कत रही और काफी तकलीफदेह .....कि यह बहुमूल्य वस्तु हम दोनों की सम्पत्ति है, साझे की चीज है। यह बुरा है। सही है कि धनोपार्जन में महिदेव का भी हिस्सा बराबर का रहा है, उसने भी मेहनत में, परेशानी में कुछ उठा नहीं रखा। लेकिन..... ।'

अहिदेव कुछ रुका। शायद यह सोचने के लिये कि-'अगर साझे की चीज है, तो भी बुरा क्या ? है तो भाई ही, न ? सगा भाई, प्यारा भाई । उसकी चीज है तो अपनी और अपनी है तो उसकी।'

पर, आप मानिए वह यह बात चाह कर भी न सोच सका। वह जो आज अमीर बन चुका था। सगे भाई का वह प्रेम जो कल तक अटूट बना हुआ था, जिसका हृदय में एक प्रमुख स्थान रहा था-आज भग्न हुआ, अस्तित्व को मिटाये दे रहा है।.....

आज उसके सामने बहुत-कुछ सोचने को पड़ा है। इतना, जिसे शायद वह जीवन की अन्तिम घड़ी तक भी न सोच सके। चारों ओर आवश्यकतायें...उलझनें. भविष्य और दूसरी...

चिन्तायें... । भीतर एक संघर्ष छिड़ा हुआ है। वह इन सबके आगे दीन-निरुपाय-बना जा रहा है। यह दूसरों की बात सोचे तो कब, कैसे ? स्वयं की समस्यायें जो अवकाश नहीं छोड़ रहीं ।.....

पर, ऐसा पहले तो कभी उसने महसूस नहीं किया ? .... तब वह गरीब जो था-दरिद्र ! जिसका 'जीवन' एक 'दुर्गन्धित शव' से अधिक महत्त्व नहीं रखता।

वह सोचता जा रहा है-'लेकिन.. यह जो बड़ी रकम की चीज है। क्या इसे यों ही हाथ से निकल जाने दिया जाय ? ऊँह्! अरे, अपने हाथ से गई तो फिर गई ही। चाहे भाई पर जाए, चाहे दुश्मन पर ?- अपने को क्या ? अपनी गाँठ में, वह अपना। वही तो वक्त पर काम आता है और फिर एक बात यह भी तो है, उसने मेहनत जरूर की, माना ! लेकिन धन जो इतना कमाया है, सब मेरी ही तरकीबों से। रास्ते तो मैंने ही बनाये न ? उसे क्या अक्ल ? कल का छोकरा। अकेला कमा लेता इतना, तब कहता कि हाँ । -यों क्या है- बने हुये रास्ते पर नादान बच्चा भी चल सकता है, पर वह कमबख्त ! मानेगा कब ? कि रत्न मुझे ही ले लेने दे।..... न माने ? मैं जो मनवा सकता हूँ-तरकीब ही तो है कि जान से मार दूँगा-बस मामला खतम। मरीज ही नहीं तो, मर्ज क्या ? फिर रत्न मेरा और मेरा। तब..... मैं कहलाऊँग-अमीर बड़ा आदमी।'

सोचते-सोचते अहिदेव जैसे स-शरीर स्वर्ग में पहुँच गया। धनी का भवन जो स्वर्ग से कम नहीं, जैसे गरीब की झोपड़ी नरक।

और यों स्वर्ग की बात होती है मधुर, जैसे नरक की बदजायका-कड़वी।

कैसी मुसीबत में पड़ा है-अहिदेव ! रात भर न जाने क्या सोचता-विचारता रहा है। पर, अब सोच रहा है -'जो कुछ सोचा गया-बहुत बुरा।'

शायद प्रभात के बालार्क[1] ने उसके भीतर का अन्धेरा मिटा दिया है, दुनियाँ के साथ-साथ उसे भी कुछ प्रकाश मिला है। जिससे अब भरा-बुरा सूझने लगा है उसे। वह विचार मग्न है-

'.....छि: ! कितने घृणित विचार कर बैठा मैं ! पापी-मनुष्यता से शून्य। भाई की हत्या..... ? भाई-सी वस्तु मिले कहाँ ? कैसा आज्ञाकारी है वह और हत्या का सबब.... ? एक पत्थर का टुकड़ा-रत्न ! निर्जीव-अचेतन ! छि:.... !'

और बोला-'तुम्हीं रखो न, भैया इसे अपने पास ?'

अहिदेव ने जरा गम्भीर होकर कहा- 'मैं रख चुका, अब तुम रखो-कुछ दिन।'

और रत्न महिदेव के पास आ गया।

महिदेव को न आज खाने की सुध है, न पीने की फिक्र। मन उसका विचार-धाराओं में तिनके की तरह बहा जा रहा है-बे-हतासा।

1. सवेरे का सूरज

'अच्छा ही हुआ, जो उन्होंने रत्न मुझे अपने आप दे दिया। नहीं, मुझे बखेड़ा उठाना पड़ता। छोड़ थोड़े ही देता ? जिन्दगी-भर की कमाई जो ठहरी। पैसा पैदा तो मैंने ही किया न ? उनसे होता क्या है-जरा मेहनत की न कि बढ़ी साँस, थकावट! बूढ़ों में काम से ज्यादा बातें होती हैं-कोरी बातों से कभी काम चला है ?.....'

रत्न को हाथ में लेकर महिदेव ने देखा-आँखें चौंधियाने लगीं, कैसा सुन्दर ?

उसकी हैवानियत और भी आगे की ओर बढ़ी-पर, वह कौन कम शैतान है ? कहा भी तो था उसने कि 'रखो, कुछ दिन ?' ...हुःह! जैसे उसी के बाप का माल है! अरे, यह है मेरा और मेरा ही रहेगा। .....लेकिन.....हाँ, झंझट रखा ही क्यों जाय, लगे हाथों मामला जो तय कर दिया जाय ? छुट्टी। वही तो एक दुश्मन है, वह मरा कि बेशक ये रत्न मेरा। बस, अब उसे मार ही डालना चाहिए-और कोई सूरत जो नहीं है इससे बेहतर ।.....

दिन बीत चला।

दूसरे दिन अचानक महिदेव के भीतर कुछ परिवर्तन हुआ। शायद मानवता ने अपने बल का अन्दाज किया। नशा उतरने के बाद जैसे शौकिया पियक्कड़ों का पछतावा होता है, महिदेव की दशा भी करीब-करीब वैसी ही है! यह सोच रहा है-'कितना दुष्ट हूँ मैं। बड़ा भाई होता है पिता के तुल्य और मैं चला हूँ -उसी का कत्ल करने। मूर्ख, वज्रमूर्ख! दो दिन की जिन्दगी में, न पुछने वाली

स्याही लगाने। थोड़े से स्वार्थ-थोड़े से लालच पर-छिः ! मैं प्रेम को देकर नहीं चाहता यह बड़प्पन, नहीं चाहता यह पाषाण खण्ड!'

और तभी महिदेव दौड़कर जाता है-भैया के पास।

'भैया ! इसे अपने ही पास रखो तुम ! मैं नहीं रखूँगा- इसे।'

'क्यों' अहिदेव ने पूछा ।

'यह मुझे कुमन्त्रणा देता है-भैया! यह मुझे आदमी से जानवर बनाने की जिद ठाने बैठा है। न, इसे मैं न रखूँगा-कहता हूँ, हरगिज नहीं। मुझे, रत्न-वत्न कुछ नहीं चाहिए, मुझे तो वही चाहिए-प्रेम, भाई पर भाई की ममता, वही हृदय, हृदय को मोहने वाला मानव संगीत।'

अहिदेव का मन जैसे उमड़ उठा भाई की सरलता पर, सहृदयता पर ।.....

और दोनों गले-से-गले मिलकर आँसू बहाने लगे। जैसे भीतर जगह न मिलने से खुशी पानी बनकर बह जाना चाहती हो।

स्वदेश लौट आये।

घर आकर जो सबसे पहले काम किया, वह था-माँ को रत्न भेंट करना।

'लो माँ! यह है परदेश की कमाई, रखो इसे अपने पास।'

वृद्ध माँ की छाती फूल उठी-कैसे सुपात्र हैं दोनों बेटे !

और रत्न उसने कब्जे में किया प्रसन्न चित्त।

प्रेम की प्राकृतिक प्रतिनिधि होती है–माँ लेकिन परिस्थिति और अभाव उसे भी अछूता नहीं छोड़ते।

माँ के ममतामयी मन में भी कुछ उत्पीड़न हुआ, कुछ पैशाचिकता ने पैर जमाये। यह थी–बड़प्पन की स्वार्थान्धता और अचेतन पदार्थ की प्रभाव–शक्ति–मूर्ति–पूजा की सफलता के बारे में दी जा सकने वाली एक नजीर!

माँ के मन में ख्याल आया–'दे तो दी है, यह बहुमूल्य–वस्तु मुझे। पर, माँग भी तो सकते हैं–मेरा क्या वश? 'मेरी' ही हो सकती। अरे, क्यों न, दोनों को जहर देकर मार दूँ!–रास्ता साफ..... '

शायद और कुछ सोचने जाती कि सामने अहिदेव, महिदेव! विचार–धारा एक दम विरुद्ध दिशा की ओर बहने लगी।–अपने ही पेट से निकाले, दो बच्चे सामने जो खड़े थे। सलौना मुँह, साफ तबियत और सीधे–साधे।

'उफ्! कितना बुरा सपना देखा अभी । कैसे भूलूँ इसे? –हत्या–खून–माँ के हाथों अपने ही बच्चों का? खुद भीगे में सोकर जिन्हें सूखे में सुलाया, अपनी तकलीफ का ख्याल न कर, जिन्हें सुख पहुँचाने में सुख माना–उन्हीं के खून में हाथ रंगे जायें–एक लुभावक पत्थर के लिये और रंगे वह–जिसका एक पैर कब्र में गड़ चुका है, जिसे आज मरे कल तीसरा दिन ! धिक्!'

माँ की दोनों कोहों से दो बूँद आँसू टपक पड़े।

दोनों भाई सन्न!

वाष्पाकुलित–कण्ठ से दोनों ने एक साथ कहा–माँ।

माँ का हृदय जाने कैसा हो उठा था। कातर–स्वर में बोली–

'मुझे गरीबी में ही रहने दो, बच्चो! हमें नहीं चाहिए यह अमीरी का बोझ! यहाँ कलह, असन्तोष, हत्या, पाप और गहरी स्वार्थपरता का राज्य है, नहीं चाहिए वह हमें धनवानों का जीवन! हमें अपनी दरिद्रता पर गर्व है कि हम मदान्ध तो नहीं हैं। एक दूसरे के खून के प्यासे तो नहीं हैं। फेंक दो, इस मनुष्यता को भुलाने वाले मनहूस पत्थर के टुकड़े को!'

रत्न, समुद्र के अथाह जल में फेंक दिया गया है और उस परदेश की; मेहनत की कमाई के बदले एक चीज पाई है। वे समझते हैं, अब जो कुछ उन्हें मिला है, वह उस रत्न से कहीं मूल्यवान है और वह चीज है **'सन्तोष'**!

सब प्रसन्न, सब आनन्दमय! प्रेम से, थोड़े में जिन्दगी बिता रहे हैं। न उनके आगे अब अधिक सोचने को है और न इच्छायें.....। दिन–रात अवकाश ही अवकाश! यानी मानवता के विवेचन के लिये समय! चर्चा चलती है तो दोनों कड़े स्वाभिमान के साथ कहते हैं–**'हम गरीब ही दुनियाँ में मनुष्यता को जिन्दा रखे हुये हैं।'**

मर्यादा पुरुषोत्तम
राम की प्राणेश्वरी सीता का
रावण ने हरण किया
इस कृत्य ने
संसार की नजरों में उसे कितना गिराया,
यह आप अच्छी तरह जानते हैं।
लेकिन,
क्या आप यह भी जानते हैं कि
वह कितना महान था ?
उसका जीवन-पुस्तक में-
केवल एक ही पृष्ठ है।
.....जो
दूषित है।
वरन् सारी पुस्तक
प्यार की वस्तु है।.....
इसे पढ़िये-
इसी में चित्र का
दूसरा पहलू है.....।

5. उपरम्भा

अन्त:पुर में-

.....और कुछ देर तक तो 'विचित्र-माला' स्वामिनी के हृदय-रहस्य से अनभिज्ञ ही रही। स्पष्ट-भाषा और विस्तृत भूमिका कही जाने पर भी उसकी समझ में कुछ न आया।

वह चतुर थी। दासित्व का अनुभव उसका बहुत पुराना था। स्वामिनी का 'रुख' किधर है, यह बात वह अविलम्ब पहिचान लेती थी किन्तु आज, जैसे उसकी समग्र चतुरता पर तुषार-पात हो गया। यह पहला मौका था, जब वह इस तरह परास्त हुई। शायद इसलिये कि उसको स्वामिनी ने आज जो कार्य सौंपा, जो प्रस्ताव सामने रखा, वह सर्वथा नवीन, सर्वथा अनूठा और सर्वथा आश्चर्यप्रद था। जिसकी कल्पना तक उसके हृदय में मौजूद न थी।

उसने अनुभव किया-आज उसकी स्वामिनी की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन है। स्वभावत: मुख-मण्डल पर विराजने वाला तेज, दर्प, विलीन हो चुका है। वाणी की प्रखरता में याचककण्ठ की कोमलता छिप गई है। उसके व्यवहार में आज शासकता नहीं, दलित-प्रजा की क्षीण-पुकार अवशिष्ट है। लेकिन यह सब है क्यों ? यह वह न समझ सकी।

उस सुसज्जित भव्य भवन में केवल दो ही तो हैं, फिर उसकी स्वामिनी हृदयस्थ बात को क्यों इतने संकोच के साथ बयान

करना चाहती है। क्या वास्तव में कोई गूढ़-रहस्य है? ..... और वह रहस्य कहीं प्रेम-पथ का तो नहीं?

नारी हृदय का अन्वेषण कार्य प्रारम्भ हुआ। वह विचारने लगी- 'इतने बड़े प्रतापशाली महाराज की पटरानी क्या किसी का हृदय में आह्वान कर सकती है? छिः पर-पुरुष।.....कोरी विडम्बना!!!'

पर उसी समय, उसकी एक अन्तर शक्ति ने इसकी प्रतिद्वन्द्वता स्वीकार की। '.....हाँ, हृदय हृदय है। उसका तकाजा ठुकराया नहीं जाता। वह सब कुछ कर सकता है। उसकी शक्ति सामर्थ्य सुदूर- सीमावर्तिनी है।'

मन के संघर्ष को दबाये, वह स्वामिनी की तरफ देखती-भर रही। इस आशा से कि वे कुछ स्पष्ट कहें। और तभी-

'स्वामिनी के युगल-अधरों में स्पन्दन हुआ। शुभ्र दन्त-पंक्ति को सीमित कारावास के बाहर क्या है?-यह देखने की इजाजत मिली, अरुण, कोमल कपोलों पर लालिमा की एक वाणी प्रस्फुटित हुई!-

'तू मेरी प्यारी सहेली है, तुझसे मेरा क्या छिपा है। कुछ छिपाया भी तो नहीं जा सकता। भेद की गुप्त बात तुझसे न कहूँ तो, कहूँ फिर किससे.....? -सखी को छोड़, ऐसा फिर कौन?.... दुःख सुख की बात.....।' -रानी साहिबा ने बात को अधूरा ही रहने मेरे दिया। बात कुछ बन ही न पड़ी इसलिये, या देखें सखी का क्या अभिमत है, यह जानने के लिये।

सखी को महारानी से कुछ प्रेम था, सिर्फ वेतन या दासित्व तक की ही मर्यादा न थी।.... समस्या का कुछ आभास मिलते ही उसने अपने हृदय उद्‌गारों को बाहर निकाला-आप ठीक कह रही हैं, महारानी! कोई भी बात आपको मुझसे न छिपाना चाहिये। और मैं शक्ति-साध्य कार्य भी यदि आपके लिये संपन्न न कर सकी तो-मेरा जीवन धिक्कार! आप विश्वास कीजिए-मुझसे कही हुई बात आपके लिए सुखप्रद हो सकती है, दुःखकर कदापि नहीं। अपकी अभिलाषा को मुझ तक आना चाहिए, बगैर संकोच, झिझक के! इसके बाद उसे पूर्णता का रूप देना-मेरा काम! मैं उसे प्राणों की बाजी लगाकर भी पूरा करने की चेष्टा करूँगी।'

'.... लेकिन सखी! बात इतनी घृणित है, इतनी पाप-पूर्ण है, जो मुँह से निकाले नहीं निकलती। मैं जानती हूँ-ऐसा प्रस्ताव मुझे मुँह पर भी न लाना चाहिये। मगर लाचारी है, हृदय समझाये नहीं समझता। एक ऐसा नशा सवार है, जो या तो हृदय समझाये नहीं समझता। एक ऐसा नशा सवार है, जो या तो मिलना या प्राण- विसर्जन पर तुला बैठा है। मैं उसे ठुकरा नहीं सकती। कलंक लग जायेगा, इसका मुझे भय नहीं। लोग क्या कहेंगे, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मैं... तो बस, अपने हृदय के ईश्वर को चाहती हूँ।....'- महारानी के विह्वल कण्ड ने प्रकट किया। शायद और भी कुछ प्रगट होता, कि विचित्रमाला ने बीच ही में टोका-'...परन्तु वह ईश्वर है कौन?'

'लंकेश्वर-महाराज-रावण!'-अधमुँदी आँखों में स्वर्गसुख का आह्वान करती-सी, महारानी कहने लगी-'शायद तू नहीं जानती! मैं उस पुरुषोत्तम पर, आज से नहीं विवाहित होने के पूर्व से ही, प्रेम रखती हूँ, मोहित हूँ'। तभी से उसके गुणों की, रूप की, और वीरता की, हृदय में पूजा करती आ रही हूँ। लेकिन कोई उचित, उपयुक्त अवसर न मिलने से चुप थी, परन्तु-अ..... आज वह शुभ दिवस सामने है, जब मैं उस तक अपनी इच्छा पहुँचा सकूँ। उसके दर्शन कर, चरणों में स्थान पाकर, अपनी अन्तराग्नि शान्त कर सकूँ!! वह आज समीप ही पधारे हैं। हमारे देश पर विजय पताका फहराना-उनका ध्येय है।.....काश! उन्हें मालूम होता कि देश की महारानी के हृदय पर वह कब से शासन कर रहे हैं!'

'तो... ?-विचित्रमाला ने स्वयं भी कुछ कहना चाहा। पर महारानी ने मौका ही न दिया! वह बोली-'मैं कुछ सुनना नहीं चाहती-विचित्रमाला! बस, मुझे तो कहना ही है, सिर्फ कहना भर! और शायद अन्तिम! ....अगर तुम मेरा जीवन चाहती हो, तो मुझे आज उनसे मिला दो, नहीं, मैं आत्मघात कर प्यार की आराधना-वेदी पर बलिदान हो जाऊँगी।'

'इतनी कठिनता न अपनाओ-स्वामिनी! मुझ पर विश्वास रखो, मैं अभी उनसे जाकर निवेदन कर, तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण कराऊँगी। मेरा धर्म तुम्हारी आज्ञा पालन में है, इसे मैं खूब जानती हूँ। धैर्य रखो-मैं इस कार्य में जो बन पड़ेगा, सब करूँगी।'

महारानी गद्‌गद् हो गई।

दूसरे ही क्षण विचित्रमाला महारानी की सुदीर्घ, कोमल, बाहुपाश में आबद्ध थी।

(2)

'कौन? महाराज नलकुँवर की पटरानी उपरम्भा की दासी... ?..'

'हाँ, महाराज ?'

'क्या चाहती है ?-इतनी रात बीते यहाँ आने का कारण ?'

'ज्ञात नहीं! वह आपसे एकान्त में मिलने की इच्छा प्रकट करती है! बतलाती है, बात अत्यन्त गोपनीय है, प्रगट नहीं की जा सकती।'

.....लंकेश्वर ने एक भेद-भरी दृष्टि विभीषण पर डाली, वे बोले-'साक्षात् करने में कोई हानि नहीं! सम्भव है, गढ़विजय की कोई युक्ति बतलाये।'

'अच्छा भेज दो, पिछले खेमे में।'

'जो आज्ञा!'-प्रहरी चला गया। लंकेश एकान्त-खेमे में उसकी प्रतीक्षा करने लगे। विभीषण बराबर के शिविर में विराजे रहे।

उसी समय, श्याम-वस्त्रों से सुसज्जित विचित्रमाला ने प्रवेश किया।

'.....उनका नाम है-उपरम्भा! है तो नारी, परन्तु किन्नरी भी उनके सौन्दर्य का लोहा मानती है। वह पृथ्वी की रम्भा हैं। चाँद-सा बदन, कोयल-सा स्वर, मराल-सी गति और सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति ! यौवन का विराम-सदन! महाराज नल कुँवर, जिनकी यशस्विता सर्वत्र व्याप्त है, उनकी प्राण-प्यारी पटरानी है-वह!'- दासी ने अपनी सफलता की भूमिका बाँधी! लेकिन दशानन ने मुँह पर अरुचि का भाव लाते हुये कहा-

'अच्छा! अब मतलब की बात कहो।'

दासी चुप। '...क्या ये बे-मतलब की बातें हैं? ....व्यर्थ हैं..... ?' वह फिर कहने लगी-'मैं महारानी उपरम्भा की अन्तरंग-सखी हूँ, मुझे उन्हीं ने आपके पास भेजा है।'

'किसलिये ?' - गम्भीर प्रश्न हुआ।

इसलिये कि वह आप पर मोहित हैं। आपकी कृपा कांक्षिणी हैं। संयोग-याचना करती हैं। वह बहुत-दिन से आप के नाम की माला जपती आ रही है। अब उनका जीवन केवल आपके कृपा-दान पर ही निर्भर हैं। उनका हृदयांचल सिर्फ एक वस्तु चाहता है-मिलन या मृत्यु। -विचित्रमाला ने स-शीघ्र स्वामिनी का सन्देश सामने रख दिया।

उधर कठिनतापूर्वक महाराज रावण, मर्यादा और उज्ज्वल चरित्र के उपासक-उपर्युक्त शब्दों को सुन सके। जैसे ही दासी का मुँह बन्द हुआ कि-दोनों कानों पर हाथ रख, खेद-भरे स्वर में

बोले- 'उफ् ! उफ् !' यह मैं क्या सुन रहा हूँ। यह जघन्य पाप ? भद्रे! अपनी स्वामिनी से कहना कि मैं पर-नारी को अंग-दान देने के लिये दरिद्री हूँ। एक दम असमर्थ हूँ। मुझसे.... दासी अवाक्! यह मनुष्य है या देवता ? .. गृहस्थ है या वासना-विजयी-साधु? दुर्लभ प्राप्त प्रेमी की यह अवहेलना ? -यह निरादर ? -

उसी समय बराबर के शिविर का पट हिला। महाराज रावण उधर चले । सामने विभीषण। वह बोले-'भूलते हो भाई! यह राजनीति है। केवल सत्य से यहाँ काम नहीं चलता। ....इसे ऐसा कोरा जवाब न दो। अवश्य ही उपरम्भा वश होकर गढ़-विजय की कोई गुप्त- युक्ति बतलाएगी। क्या तुम्हें मालूम नहीं, नलकुँवर ने कैसा दुर्भेद्य, मायामयी प्राकार निर्माण किया है? जिसके समीप जाना तक दुरूह।' रावण लौटे। मुख पर प्रसन्नता थी। बोले-'मैं ऐसा जघन्य पाप हर्गिज न करता। लेकिन जब वह प्राणान्त तक के लिये उद्यत है, तो....उसकी प्राण रक्षा के निमित्त मुझे सब कुछ करना होगा। जाओ उसे शीघ्र ही मेरे समीप ले आओ। मैं उसकी प्रतीक्षा में हूँ।'

दासी के हर्ष का क्या ठिकाना ? वह वाणी से, आकृति से सारे शरीर से अभिवादन करती, खेमे से बाहर निकली। उसके हृदय में सफल चेष्टा की खुशी लहरें ले रही थीं।

(3)

धन्य! उस यौवन और सौंदर्य की मूर्तिमान प्रतिमा उपरम्भा को देखकर भी रावण का हृदय विचलित न हुआ। वह अटलभाव से उसकी ओर देखता रहा ।

उपरम्भा की वेश-भूषा आज नित्य की अपेक्षा कहीं, बहु-मूल्य, आकर्षक और नेत्र प्रिय थी। उसने आज लगन के साथ शृङ्गार किया था। भूषणों के आधिक्य के कारण वह भारान्वित थी अवश्य। पर उसका पैर फूल-सा पड़ता था। मन में खुशी जो थी ...

वह आई। उसने अभिवादन किया। रावण ने एक मधुर-मुस्कान में उसका प्रत्युत्तर दिया। संकेत प्राप्त कर, योग्य-स्थान पर वह बैठ गई ।

वह मधु निशीथ! चतुर्दिक नीरवता का साम्राज्य! बाहर ज्योत्स्ना रजत-राशि बखेर रही थी। मलय- रहा था। य-समीर मन्थर गति से विहार कर रहा था।

और उसी समय, उस भव्य खेमे में उपरम्भा ने अपनी मधुर-ध्वनि द्वारा निस्तब्धता भंग की।

'प्राणेश्वर ! मेरी अभिलाषा आप तक पहुँच चुकी है। और आपने उसका सम्मान भी किया है। अब इस वियोगाग्नि को अंग-दान द्वारा शान्ति दीजिये। विलम्ब असहनीय बन रहा है-प्रभु! आओ..... ।'

तभी उसने बढ़ कर महाराज रावण के कण्ठ में अपनी बाहु-पाश डालनी चाही। रावण ने देखा-उपरम्भा के हृदय में वासना आँधी-प्रलय का सन्देश सुना देने के लिये व्यग्र हो रही है। आँखें उन्माद से ओत-प्रोत हो रही हैं। वाणी में विह्वलता समा चुकी है। और वह एकदम पागल है। उसे अपनी मर्यादा का ध्यान नहीं।

'भद्रे ! तुम्हारी इच्छा मुझसे छिपी नहीं। मेरी इच्छा भी तुम्हारे अनुकूल ही है। परन्तु थोड़ा अन्तर है। मैं चाहता हूँ-तुम्हारा समागम स्वाधीनता पूर्वक राजप्रासाद के भीतर ही हो। यों जंगलों में पशुओं की तरह क्या आनन्द ? कहो, तुम क्या सम्मति रखती हो ? ....'

-रावण ने उसके आलिंगन-अवसर को व्यर्थ करते हुये, जरा मिठास- पूर्वक पूछा ।

'....जैसी तुम्हारी इच्छा हो-प्यारे! तुम्हारी खुशी में ही मेरा आनन्द है, सुख है !!..... '

उपरम्भा के उत्तेजित-मन ने व्यक्त किया।

'तो उस मायामय-गढ़-ध्वंस का उपाय ?' -बात को बहुत साधारण ढंग की बनाते हुये, रावण ने प्रश्न किया।

'उपाय.... ?' - जब तुमसे मेरी इच्छा छिपी न रह सकी, तो उपाय कैसे रह सकता है। सुनो गढ़-ध्वंस का उपाय यह है कि... ,

और उस मुग्धा ने बगैर इसकी, चिन्ता किये कि उसके पति का कितना पराभव होगा, क्या होगा, गढ़-ध्वंस-कारिणी विद्या रावण को ही दी।

ओफ् ! नारी का विचलित-हृदय!

(3)

धन्य! उस यौवन और सौंदर्य की मूर्तिमान प्रतिमा उपरम्भा को देखकर भी रावण का हृदय विचलित न हुआ। वह अटलभाव से उसकी ओर देखता रहा ।

उपरम्भा की वेश-भूषा आज नित्य की अपेक्षा कहीं, बहु-मूल्य, आकर्षक और नेत्र प्रिय थी। उसने आज लगन के साथ शृङ्गार किया था। भूषणों के आधिक्य के कारण वह भारान्वित थी अवश्य। पर उसका पैर फूल-सा पड़ता था। मन में खुशी जो थी...

वह आई। उसने अभिवादन किया। रावण ने एक मधुर-मुस्कान में उसका प्रत्युत्तर दिया। संकेत प्राप्त कर, योग्य-स्थान पर वह बैठ गई ।

वह मधु निशीथ! चतुर्दिक नीरवता का साम्राज्य! बाहर ज्योत्स्ना रजत-राशि बखेर रही थी। मलय- रहा था। य-समीर मन्थर गति से विहार कर रहा था।

और उसी समय, उस भव्य खेमे में उपरम्भा ने अपनी मधुर-ध्वनि द्वारा निस्तब्धता भंग की।

'प्राणेश्वर ! मेरी अभिलाषा आप तक पहुँच चुकी है। और आपने उसका सम्मान भी किया है। अब इस वियोगाग्नि को अंग-दान द्वारा शान्ति दीजिये। विलम्ब असहनीय बन रहा है-प्रभु! आओ.....।'

तभी उसने बढ़ कर महाराज रावण के कण्ठ में अपनी बाहु-पाश डालनी चाही। रावण ने देखा-उपरम्भा के हृदय में वासना आँधी-प्रलय का सन्देश सुना देने के लिये व्यग्र हो रही है। आँखें उन्माद से ओत-प्रोत हो रही हैं। वाणी में विह्वलता समा चुकी है। और वह एकदम पागल है। उसे अपनी मर्यादा का ध्यान नहीं।

'भद्रे ! तुम्हारी इच्छा मुझसे छिपी नहीं। मेरी इच्छा भी तुम्हारे अनुकूल ही है। परन्तु थोड़ा अन्तर है। मैं चाहता हूँ-तुम्हारा समागम स्वाधीनता पूर्वक राजप्रासाद के भीतर ही हो। यों जंगलों में पशुओं की तरह क्या आनन्द ? कहो, तुम क्या सम्मति रखती हो ?....'

-रावण ने उसके आलिंगन-अवसर को व्यर्थ करते हुये, जरा मिठास- पूर्वक पूछा ।

'....जैसी तुम्हारी इच्छा हो-प्यारे ! तुम्हारी खुशी में ही मेरा आनन्द है, सुख है !!.....'

उपरम्भा के उत्तेजित-मन ने व्यक्त किया।

'तो उस मायामय-गढ़-ध्वंस का उपाय ?' -बात को बहुत साधारण ढंग की बनाते हुये, रावण ने प्रश्न किया।

'उपाय.... ?' - जब तुमसे मेरी इच्छा छिपी न रह सकी, तो उपाय कैसे रह सकता है। सुनो गढ़-ध्वंस का उपाय यह है कि... ,

और उस मुग्धा ने बगैर इसकी, चिन्ता किये कि उसके पति का कितना पराभव होगा, क्या होगा, गढ़-ध्वंस-कारिणी विद्या रावण को ही दी।

ओफ् ! नारी का विचलित-हृदय!

(4)

दूसरे ही दिन-

वह दुर्भेद्य-नगर महाराज-रावण के आधीन था। सारी प्रजा के मुँह पर रावण के नाम का जयघोष था। वह भयंकर मायापूर्ण-दुर्ग विलीन हो चुका था। कल तक सिंहासन पर विराजने वाले महाराज नलकुँवर आज बन्दी के रूप में रावण के प्रचण्ड तेज के आगे खड़े हुये थे। शेष सब ज्यों का त्यों था ।.....

उपरम्भा अपने पति समीप खड़ी हुई थी। हृदय में द्वन्द्व चल रहा था-पता नहीं कैसा.. ?..सब दरबारी उपस्थित थे।

'सुनो.....'- रावण ने उपरम्भा को संकेत करते हुये कहा- तुम स्वयं जानती हो, पर-पुरुष-संगम कितना जघन्य-पाप है। और इसके अतिरिक्त-तुमने मुझे विद्या-दान दिया है, अतः तुम मेरी 'गुरानी' हो पूज्य हो। मैं तुम्हारे आनन्द, सुख और सम्भोग के लिये महाराज नलकुँवर को बन्धन मुक्त कर तुम्हें दे रहा हूँ । जाओ, उनके साथ आनन्द करो। पुरुष-पुरुष में कोई भेद नहीं, मुझे क्षमा करो।..

उपरम्भा का हृदय आत्म-ग्लानि से भर गया। उसने समझा- रावण कितना महान है! कितना उच्च है! वह पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है! वन्दनीय है !!

कवि की कल्पना में
जब बाँध लग जाता है। मिनटों
सोचने पर भी
कलम जब आगे नहीं बढ़ती,
तब मन में एक खीज पैदा हो उठती है।
ठीक वैसी ही खीज की कटुता
उस शिकारी को भी
विकल करती है, जो थकावट से चूर
प्यास से मजबूर
और अपने निवास से दूर-
जंगलों-झाड़ियों में
शिकार के पीछे या शिकार की तलाश में
दौड़ता-हाँपता घूमता है,
पर शिकार हाथ नहीं लगता!.....

6. शिकारी

राजपूत-नरेश का मन खीझ रहा है! रह-रहकर मन में आ रही है- 'घर लौट चलें।'

लेकिन..... ?

'क्या खाली हाथ? अभी सन्ध्या होने में काफी देर है! सम्भव है, कुछ हाथ लगे।'.....

राज-पुत्र ने घोड़ा बढ़ाया। हृदय में आशा ने भी दौड़ लगाना शुरू किया ।.... हवा का एक झोंका आया, घोड़ा घने पेड़ की छाँह से गुजर रहा था, कितनी ठण्डी हवा लगी कि राजपुत्र का प्यास से मलिन-मुख उद्दीप्त हो उठा ! किन्तु वह रुके नहीं, 'ठहरना' उनकी खीज का साथी था, और उद्देश्य का शत्रु!

'इन झाड़ियों से उस पार मैदान होगा, साफ सुथरा चमकीला स्थान! वहाँ और कुछ नहीं, तो हिरन तो होंगे ही! जरूर होंगे- अक्सर ऐसा होता है। खाली हाथ लौटने से जो मिले वही ठीक।'

शिकारी का अनुमान शिकार के सम्बन्ध में प्राय: सही बैठता है। रोज का अभ्यास, पुराना अनुभव ! गलत कैसे बैठे?

शिकारी आगे बढ़ा। जैसे ही झाड़ियों के बीच में पहुँचा कि दिखा वही दृश्य-जिसे अनुमान ने पहले ही देख रखा था!... लम्बे-चौड़े मैदान के कोने में हिरण-दम्पत्ति मौज में ललक रहे हैं, प्रणय-स्वर्गीय-सरिता की भाँति सवेग प्रवाहित हो रहा है!

'सन्ध्या की सुनहरी धूप में कितने अच्छे लग रहे हैं वह? कैसा मुक्त जीवन है उनका? साफ-सुथरी जमीन पर, मुक्ताकाश के नीचे, सभ्यता के बन्धनों से रहित, एकान्त आँगन में कैसा प्रेम-प्रमोद रच रहे हैं? गुप्त-मंत्रणा कर रहे हैं-जाने? कैसी कैसी उत्तेजक प्रेम-लीला है यह?'.....

शिकारी कुछ देर खड़ा, सोचता-विचार... पाठ भूले, विद्यार्थी की तरह! या चौकड़ी भूले, हिरणी का भा... फिर-सहसा चेतना लौटी, परिस्थिति का ज्ञान हुआ-रात हुई जा रही है! सबेरे से अब तक एक भी शिकार हाथ नहीं चढ़ा ! जाने किसका मुँह देखकर आया गया है आज !

इसके बाद ही, षोड़शी-नारी की भू-बंक के भाँति, कमान को बनाया गया, सर सधे हुये हाथों ने बाण का निशाना साधा ! और दूसरे ही पल-लक्ष्यवेध!....बाण हिरणी के पेट में होकर आर-पार!

शिकारी ने जाकर देखा-जमीन खून से रंग रही है! विवश-नेत्रों से हिरणी अपने प्रेमी, अपने सब कुछ, अपने स्वामी की ओर देख रही है। उस 'देखने' में जैसे सारे संसार की दीनता भर दी हो...

आँतें बाहर निकली आ रही हैं, जीभ-हाँ, सूखी-सी जीभ-मुँह के बाहर, दाँतों की कैद के बाहर हो रही है ! बार-बार भागने की बेकार कोशिश करती है, और गिर-गिर जाती है! कितनी द्रावक, कितनी दयनीय?

मगर शिकारी के लिए हिरणी का वध-खुशी थी, दिनभर के परिश्रम का पुरस्कार था-बहुत मामूली, बहुत छोटासा! उसकी आँखों में चमक-सी आ गई! सफल मनोरथ होने पर आती है-वैसी! कूद कर घोड़े से उतरा, बगैर ग्लानि के उसके खून से, लाल-लाल, काले रूख गाढ़े खून से सने शरीर को उठाया! और क्षत्रियत्व की , ताकत लगाकर पेट में घुसे हुए बाण को खींच निकाला।

औफ!!!

'क्या खाली हाथ? अभी सन्ध्या होने में काफी देर है! सम्भव है, कुछ हाथ लगे।'.....

राज-पुत्र ने घोड़ा बढ़ाया। हृदय में आशा ने भी दौड़ लगाना शुरू किया L... हवा का एक झोंका आया, घोड़ा घने पेड़ की छाँह से गुजर रहा था, कितनी ठण्डी हवा लगी कि राजपुत्र का प्यास से मलिन-मुख उद्दीप्त हो उठा ! किन्तु वह रुके नहीं, 'ठहरना' उनकी खोज का साथी था, और उद्देश्य का शत्रु!

'इन झाड़ियों से उस पार मैदान होगा, साफ सुथरा चमकीला स्थान! वहाँ और कुछ नहीं, तो हिरन तो होंगे ही! जरूर होंगे- अक्सर ऐसा होता है। खाली हाथ लौटने से जो मिले वही ठीक।'

शिकारी का अनुमान शिकार के सम्बन्ध में प्राय: सही बैठता है। रोज का अभ्यास, पुराना अनुभव ! गलत कैसे बैठे?

शिकारी आगे बढ़ा। जैसे ही झाड़ियों के बीच में पहुँचा कि दिखा वही दृश्य-जिसे अनुमान ने पहले ही देख रखा था!... लम्बे-चौड़े मैदान के कोने में हिरण-दम्पत्ति मौज में ललक रहे हैं, प्रणय-स्वर्गीय-सरिता की भाँति सवेग प्रवाहित हो रहा है!

'सन्ध्या की सुनहरी धूप में कितने अच्छे लग रहे हैं वह? कैसा मुक्त जीवन है उनका? साफ-सुथरी जमीन पर, मुक्ताकाश के नीचे, सभ्यता के बन्धनों से रहित, एकान्त आँगन में कैसा प्रेम-प्रमोद रच रहे हैं? गुप्त-मंत्रणा कर रहे हैं-जाने? कैसी कैसी उत्तेजक प्रेम-लीला है यह?'.....

शिकारी कुछ देर खड़ा, सोचता-विचारता रहा-यही सब! पाठ भूले, विद्यार्थी की तरह! या चौकड़ी भूले, हिरणी की भाँति! फिर-सहसा चेतना लौटी, परिस्थिति का ज्ञान हुआ-रात हुई जा रही है! सबेरे से अब तक एक भी शिकार हाथ नहीं चढ़ा ! जाने किसका मुँह देखकर आया गया है आज !

इसके बाद ही, षोड़शी-नारी की भू-बंक के भाँति, कमान को बनाया गया, सर सधे हुये हाथों ने बाण का निशाना साधा ! और दूसरे ही पल-लक्ष्यवेध !....बाण हिरणी के पेट में होकर आर-पार!

शिकारी ने जाकर देखा-जमीन खून से रंग रही है! विवश-नेत्रों से हिरणी अपने प्रेमी, अपने सब कुछ, अपने स्वामी की ओर देख रही है। उस 'देखने' में जैसे सारे संसार की दीनता भर दी हो...

आँतें बाहर निकली आ रही हैं, जीभ-हाँ, सूखी-सी जीभ-मुँह के बाहर, दाँतों की कैद के बाहर हो रही है ! बार-बार भागने की बेकार कोशिश करती है, और गिर-गिर जाती है! कितनी द्रावक, कितनी दयनीय?

मगर शिकारी के लिए हिरणी का वध-खुशी थी, दिनभर के परिश्रम का पुरस्कार था-बहुत मामूली, बहुत छोटासा! उसकी आँखों में चमक-सी आ गई! सफल मनोरथ होने पर आती है-वैसी! कूद कर घोड़े से उतरा, बगैर ग्लानि के उसके खून से, लाल-लाल, काले रूख गाढ़े खून से सने शरीर को उठाया! और क्षत्रियत्व की, ताकत लगाकर पेट में घुसे हुए बाण को खींच निकाला।

औफ!!!

हिरणी के विह्वल-नेत्रों ने एक बार चारों ओर को देखा। क्या देखना चाहती थी! इसे कौन जाने! पर दीखा उसे अपना यम, साकार-काल क्षत्रिय-पुत्र!.. कुछ घबराई, एक बार तड़पी, फिर एकदम शान्त! आँखें मुँद गईं-जैसे, उसे जो दीखा, वह इष्ट नहीं था, उसे देखने की कतई इच्छा उसके मन में नहीं थी, भावना-विरुद्ध दृश्य की कठोरता ने उसे आँखें बन्द करने को विवश किया हो!... एक गहरी सांस के साथ सब समाप्त, जीवन-लीला का अन्त!

शिकारी का मन-तितली के पंखों की तरह सुन्दर, चारों को चोंच में दबाये, लौटते पंछी की भाँति तीव्र गति से उड़ रहा है। खून में तेजी है, शरीर में नव-जीवन-सा प्रवेश हुआ लगता है। शायद हिरणी का जीवन भी इसी में आ मिला है। यों ही, अलक्षित भाव से- जो मुँह पर आया वही-गुन गुनाते हुए शिकारी हिरणी के 'शव' को घोड़े पर लादने के लिए उठने लगा, कि सामने हिरण !!!

'अरे, यह तब से यहीं खड़ा है?'-विस्मय के साथ शिकारी के मुँह से निकल गया! और वह एकटक हिरण के मुँह की ओर देखने लगा! प्रकृति के लगाये हुए काजल से अलंकृत आँखें, वेदना के पानी से भीग रहीं हैं। जिन आँखों की उपमा प्रकृति के पुजारी, भावुक कवि बड़े गौरव के साथ, सौन्दर्य विभूतियों को दिया करते। हैं! वही आँखें शोक के अथाह गर्त में डूबी जा रही हैं! जैसे उन आँखों की रोशनी मर चुकी हो, राख बन चुकी हो!!

शिकारी का शरीर ढीला पड़ने लगा! मन में एक औंधी-सी उठने लगी! आँखों में जलन-सा महसूस होने लगी! हाथ निर्जीव-से, शरीर सुन्न-सा और मुँह सूखा-सा मालूम देने लगा!!

वह टूटे पेड़ की तरह खड़ा रह गया, खण्डहर की तरह स्तब्ध! श्मशान की तरह वीभत्स!

विचारों का यातायात !.....

'मूर्ख, हिरण ! नहीं जानता कि जिसने हिरणी का प्राणान्त किया है, वह इसे कब छोड़ेगा? फिर भी भागता नहीं, डरता नहीं! प्रतिहिंसा जैसी घातकता उसके मन में टकरा रही है! प्रेम की उत्ताल-तरंगें, प्राणों के मोह को भुलाए दे रहीं हैं! ओहोह प्रेम! तूने इस जंगली जीव को भी अपने काबू में कर रखा है? वह प्रेम की समाधि में लीन होकर अपने प्राणों की आहुति देते भी नहीं भयभीत होता!'

शिकारी देख रहा है-वियोगी हिरण अपनी प्रणय की दुनिया को, अपनी दुलारी हिरणी को, एकटक देख रहा है! समझ नहीं पा रहा कि उसकी हिरणी मर चुकी है, उसकी दुनिया उजड़ चुकी है! वह इतना ही जानता है कि इसे कुछ हो गया है। वैसा हो गया है, जैसा अब तक कभी नहीं हुआ सर्प विष संहारक वायगी की तरह वह हिरणी के क्षत-विक्षत शरीर के समीप-कुछ अटल-सा कुछ विह्वल-सा कुछ ध्यानस्थ-सा बैठा आँसू बहा रहा है! जैसे प्रेम-मन्दिर में,रूठी हुई प्रेम की देवी को, प्रेम पुजारी मना रहा हो !.

हिरणी के विह्वल-नेत्रों ने एक बार चारों ओर को देखा! क्या देखना चाहती थी! इसे कौन जाने ! पर दीखा उसे अपना यम, साकार-काल क्षत्रिय-पुत्र! .. कुछ घबराई, एक बार तड़पी, फिर एकदम शान्त! आँखे मुँद गईं-जैसे, उसे जो दीखा, वह इष्ट नहीं था, उसे देखने की कतई इच्छा उसके मन में नहीं थी, भावना-विरुद्ध दृश्य की कठोरता ने उसे आँखें बन्द करने को विवश किया हो!.... एक गहरी सांस के साथ सब समाप्त, जीवन-लीला का अन्त!

शिकारी का मन-तितली के पंखों की तरह सुन्दर, चारे को चोंच में दबाये, लौटते पंछी की भाँति तीव्र गति से उड़ रहा है। खून में तेजी है, शरीर में नव-जीवन-सा प्रवेश हुआ लगता है। शायद हिरणी का जीवन भी इसी में आ मिला है। यों ही, अलक्षित भाव से- जो मुँह पर आया वही-गुन गुनाते हुए शिकारी हिरणी के 'शव' को घोड़े पर लादने के लिए उठाने लगा, कि सामने हिरण !!!

'अरे, यह तब से यहीं खड़ा है?'-विस्मय के साथ शिकारी के मुँह से निकल गया! और वह एकटक हिरण के मुँह की ओर देखने लगा! प्रकृति के लगाये हुए काजल से अलंकृत आँखें, वेदना के पानी से भीग रहीं हैं। जिन आँखों की उपमा प्रकृति के पुजारी, भावुक कवि बड़े गौरव के साथ, सौन्दर्य विभूतियों को दिया करते। हैं! वही आँखें शोक के अथाह गर्त में डूबी जा रही हैं! जैसे उन आँखों की रोशनी मर चुकी हो, राख बन चुकी हो!!

शिकारी का शरीर ढीला पड़ने लगा ! मन में एक आँधी-सी उठने लगी! आँखों में जलन-सा महसूस होने लगी! हाथ निर्जीव-से, शरीर सुन्न-सा और मुँह सूखा-सा मालूम देने लगा!!

वह टूटे पेड़ की तरह खड़ा रह गया, खण्डहर की तरह स्तब्ध! श्मशान की तरह वीभत्स!

विचारों का यातायात !.....

'मूर्ख, हिरण ! नहीं जानता कि जिसने हिरणी का प्राणान्त किया है, वह इसे कब छोड़ेगा? फिर भी भागता नहीं, डरता नहीं! प्रतिहिंसा जैसी घातकता उसके मन में टकरा रही है! प्रेम की उत्ताल-तरंगें, प्राणों के मोह को भुलाए दे रहीं हैं! ओहोह प्रेम! तूने इस जंगली जीव को भी अपने काबू में कर रखा है? वह प्रेम की समाधि में लीन होकर अपने प्राणों की आहुति देते भी नहीं भयभीत होता!'

शिकारी देख रहा है-वियोगी हिरण अपनी प्रणय की दुनिया को, अपनी दुलारी हिरणी को, एकटक देख रहा है! समझ नहीं पा रहा कि उसकी हिरणी मर चुकी है, उसकी दुनिया उजड़ चुकी है! वह इतना ही जानता है कि इसे कुछ हो गया है। वैसा हो गया है, जैसा अब तक कभी नहीं हुआ सर्प विष संहारक वायगी की तरह वह हिरणी के क्षत-विक्षत शरीर के समीप-कुछ अटल-सा कुछ विह्वल-सा कुछ ध्यानस्थ-सा बैठा आँसू बहा रहा है! जैसे प्रेम-मन्दिर में, रूठी हुई प्रेम की देवी को, प्रेम पुजारी मना रहा हो !.

शिकारी का मन भर आया। उसे ऐसा लगा जैसे उसके हृदय-कुंज[1] को किसी ने भीतर हाथ डाल कर मरोड़ दिया हो, उसके मुँह पर जैसे अमावस्या की कालिमा बिखरा दी।

मानव-मन!!!

वह सोचने लगा-'कितना अगाध-स्नेह है इसे? कपटहीन, बनावट-रहित जैसे राका की चाँदनी! वह ज्ञानवान् नहीं है! अपने को सभ्य समझने का दावा भी वह नहीं करता। लेकिन प्रेम की साधना में कितना अनुराग रखता है वह! अपनी पत्नी के प्रति कितना महान्-हृदय रखता है, कितना आदर्श है वह!'

शिकारी की आँखों में करुण-जल छलछला आया! हिरणी की मृतक देह अब उसे अपनी भूल की तरह दिखाई देने लगी, डरने लगा वह अब!.....काश! वह अब किसी तरह उसे जीवित कर सकता।....

'तृणों में अमृत का स्वाद लेने वाले वह दोनों मूक-प्राणी, अपनी निर्धन, साधन-शून्य, उजड़ी-सी दुनियाँ में प्रेम के बल पर स्वर्ग का स्थापन कर रहे थे! आह! उसे भी मैं न देख सका! मुझ-सा अधम कौन होगा? कितना भयंकर अपराध किया है मैंनें!.... जिनके पास प्राणों के सिवा और कुछ नहीं था! जो दरिद्रता की सीमा थे। उसका वह छोटा-सा धन, थोड़ी इच्छा, और सीमित-सा सौख्य भी मैंने छीन लिया उफ् यह घोर-पाप!!'

1. कमल

कौन-सी लेखनी ऐसी है, जो हिरण की मर्मान्तक पीड़ा की ठीक-ठीक चित्रण कर सके?... उसके भीतर शिकारी की सहानुभूति जैसे घुसती जा रही हो! उसकी विकलता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है! वह रो रहा है, उसकी आँखें रो रहीं हैं, उसका हृदय रो रहा है!....

यह क्या किया मैंने? एक निरपराध सुखमय, दाम्पत्तिक जीवन में आग लगा दी! मैंने नहीं समझा कि **दूसरे के प्राण भी अपने-से ही प्राण हैं, उसे भी दुःख-सुख का अनुभव होता है! वह भी अपना-सा ही हृदय रखता है! ओफ!-**

स्वार्थी विश्व! अपने-अपने स्वार्थ में मनुष्य अन्धा हो रहा है! कोई किसी की परवाह नहीं करता!

इसके बाद क्या हुआ?-इसका मुझे पता नहीं! न कहानी का उससे गहरा सम्बन्ध ही है! हाँ, यह मैं जानता हूँ, और बतलाना भी वही शेष है, कि राजपूत नरेश, अब दुनिया की नजर में 'राजा' नहीं है! लोग उसे संसार- विरक्त-साधु कहते हैं! वह अब वनों-बीहड़ों में रहता है! और वासना-शून्य-हृदय में एक पवित्र, पुनीत, आदर्श भावना हिलोरें लिया करती हैं!

और.....?

हाँ, वह शिकारी अब भी है। वैसी ही साधना, वैसा ही परिश्र वैसी ही तन्मयता को अब भी काम में लाता रहता है! लेकिन फ इतना है-अब वह पशु-पक्षियों का शिकार नहीं करता, उन प प्रवृत्तियों का शिकार किया करता है जिन्होंने उसे शिकारी बनाय

शिकारी का मन भर आया। उसे ऐसा लगा जैसे उसके हृदय-कुंज[1] को किसी ने भीतर हाथ डाल कर मरोड़ दिया हो, उसके मुँह पर जैसे अमावस्या की कालिमा बिखरा दी।

मानव-मन!!!

वह सोचने लगा-'कितना अगाध-स्नेह है इसे? कपटहीन, बनावट-रहित जैसे राका की चाँदनी! वह ज्ञानवान् नहीं है! अपने को सभ्य समझने का दावा भी वह नहीं करता। लेकिन प्रेम की साधना में कितना अनुराग रखता है वह! अपनी पत्नी के प्रति कितना महान्-हृदय रखता है, कितना आदर्श है वह!'

शिकारी की आँखों में करुण-जल छलछला आया! हिरणी की मृतक देह अब उसे अपनी भूल की तरह दिखाई देने लगी, डरने लगा वह अब!.....काश! वह अब किसी तरह उसे जीवित कर सकता।....

'तृणों में अमृत का स्वाद लेने वाले वह दोनों मूक-प्राणी, अपनी निर्धन, साधन-शून्य, उजड़ी-सी दुनियाँ में प्रेम के बल पर स्वर्ग का स्थापन कर रहे थे! आह! उसे भी मैं न देख सका! मुझ-सा अधम कौन होगा? कितना भयंकर अपराध किया है मैनें!.... जिनके पास प्राणों के सिवा और कुछ नहीं था! जो दरिद्रता की सीमा थे। उसका वह छोटा-सा धन, थोड़ी इच्छा, और सीमित-सा सौख्य भी मैंने छीन लिया उफ् यह घोर-पाप!!'

1. कमल

कौन-सी लेखनी ऐसी हे, जो हिरण की मर्मान्तक पीड़ा को ठीक-ठीक चित्रण कर सके?... उसके भीतर शिकारी की सहानुभूति जैसे घुसती जा रही हो! उसकी विकलता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है! वह रो रहा है, उसकी आँखें रो रहीं हैं, उसका हृदय रो रहा है!....

यह क्या किया मैंने? एक निरपराध सुखमय, दाम्पत्तिक जीवन में आग लगा दी! मैंने नहीं समझा कि **दूसरे के प्राण भी अपने-से ही प्राण हैं, उसे भी दुःख-सुख का अनुभव होता है! वह भी अपना-सा ही हृदय रखता है! ओफ!-**

स्वार्थी विश्व! अपने-अपने स्वार्थ में मनुष्य अन्धा हो रहा है! कोई किसी की परवाह नहीं करता!

इसके बाद क्या हुआ?-इसका मुझे पता नहीं! न कहानी का उससे गहरा सम्बन्ध ही है! हाँ, यह मैं जानता हूँ, और बतलाना भी वही शेष है, कि राजपूत नरेश, अब दुनिया की नजर में 'राजा' नहीं है! लोग उसे संसार- विरक्त-साधु कहते हैं! वह अब वनों-बीहड़ों में रहता है! और वासना-शून्य-हृदय में एक पवित्र, पुनीत, आदर्श भावना हिलोरें लिया करती हैं!

और..... ?

हाँ, वह शिकारी अब भी है। वैसी ही साधना, वैसा ही परिश्रम, वैसी ही तन्मयता को अब भी काम में लाता रहता है! लेकिन फर्क इतना है-अब वह पशु-पक्षियों का शिकार नहीं करता, उन पशु-प्रवृत्तियों का शिकार किया करता है जिन्होंने उसे शिकारी बनाया!

विराग चीज बुरी नहीं है!
बुरा है, -
विराग के नाम पर
आत्म-हनन!
इच्छा-शक्ति और
वासना,
जब तक आत्मा के
सम्पर्क में नहीं है
तब तक चाहे कोई भी रूप
क्यों न रख लिया जाय,
सच्चे अर्थ में उसे
'विरागी'
न कहा जायेगा।

7. आत्म-समर्पण

विराग की कसौटी है-वासना की हीनता! जहाँ वासना जीवित है, वहाँ विराग की गुजर कहाँ? उसे कहना चाहिए-दम्भ, विराग का कलंक! क्योंकि **वासना पाप है। और विराग एक पावन-वस्तु! मुक्ति प्राप्ति का एक सफल प्रयत्न!**

और यों विराग के दो हिस्से हो जाते हैं-एक सराग-विराग, एक यथार्थ-विराग! या कह लीजिये, विराग एक ही रहता

है! सिर्फ पहलू उसके दो दीखने लगते हैं- एक उत्थान, एक पतन! .....एक.....वासना शून्य!..... विवेकपूर्ण और एक अज्ञान!

विराग के इन्हीं दो पहलुओं का विश्लेषण इस कहानी में किया गया है।

दुनिया से उदास, वे दोनों चल दिये तपोभूमि में स्थान पाने की आशा लेकर, दुनिया वालों से दूर माँ-बाप, सुजन-सनेही सब के दुलार-प्यार और साम्राज्य की लुभावक समृद्धि को ठोकर मार कर! मन जो ऊब चुका था दुनियावी खुदगर्जी से! जीवन की खोखली आशाओं से!

कोई रोक न सका उन्हें! न माँ की ममता, न पिता का स्नेह! न ही राज्य-वैभव का लोभ! सुखों के लालच को भी शायद वह खो चुके थे। और फिर जाने वालों को कभी कोई रोक भी पाया है?

शुभचन्द्र थे बड़े, और भर्तृहरि था छोटा! कुछ दूर दोनों साथ चले, दोनों का रास्ता एक था-विराग! आगे बढ़ने पर रास्ता फटा, दो पगडंडियाँ मिलीं! एक ओर चले शुभचन्द्र, दूसरी ओर भर्तृहरि! दोनों अपने-अपने विचारों में इतने उलझे हुए, खोये हुए थे कि एक दूसरे की गतिविधि से अनभिज्ञ। जरूरत भी किसी को यह नहीं थी कि एक-दूसरे के सुधार की चिन्ता को सिर लेता, सवाल जो अपनी-अपनी आत्म-विशुद्धि का सामने था।

दोनों को विपरीत-दिशा की ओर जाना था-विराग के दो पहलुओं का स्पष्टीकरण !.....

दोनों आगे बढ़ते गए!

शुभचन्द्र के चारों ओर था अब निर्जन वन! लेकिन वे थे, जो उससे बिल्कुल बे-खबर! कहाँ चल रहे हैं, भूले हुए! अपनी निजी समस्याएँ जो उनके सामने बिखरी पड़ी थीं सोचते जा रहे थे- 'संसार की अस्थिरता, प्राणी का एकाकीपन, निरीहता!'

और जो नजर उठाकर देखा, तो हृदय गद्‌गद् हो उठा-समय की उपयुक्त वर्षा पर जैसे किसान! स्वच्छ पाषाण-खण्ड पर तपोनिधि, वासना विजयी दिगम्बर साधु विराजे हुए हैं-वन्दनीय श्रुतसागर!

शुभचन्द्र की आध्यात्मिकता को एक मौका दिया, संयोग ने सम्भवत: विकास प्राप्त करने के लिये! और उन्होंने उठाया, एक विवेकी, बुद्धिमान की तरह भरपूर लाभ! भावनाएँ जो उनकी बहुत ऊँची उठ चुकी थीं!

अनायास भक्ति और श्रद्धा ने सिर नवा दिया उस पाप क्षीण, पूज्यता के चरणों में! बोले-' भगवन्! दुनिया की धधकती आग से निकल कर, आपकी शरण में आ पड़ा हूँ! मुझे उबारिये!'

और फिर, थोड़े से समय में ही एक आदर्श, अनुकरणीय परिवर्तन हुआ कि शुभचन्द्र, तेजस्वी राजपुत्र न रह कर, परमशान्त, वैराग्य-मण्डित दिगम्बर-रूप, निर्लिप्त-साधु की श्रेणी में जा बैठे! आत्म-विकास की सीमा का आनन्दोपभोग करने की लालसा लेकर!

(2)

भर्तृहरि बढ़ा, और बढ़ता चला गया कुछ दूर, दुनिया के अरुचिकर-संघर्ष, और विषाद पूर्ण घटनाओं को सोचता-विचारता हुआ, मन उसका दुनिया से कुढ़-सा रहा है। चाह रहा है- 'कहीं दूर, शायद दुनिया के उस पार जाकर रहे जहाँ आनन्द ही आनन्द हो!'

बहुत घूमा, उस मानव-हीन बीहड़ में! दिन ढलने लगा, दिवाकर ने अपनी उग्रता से हाथ खींचा। पृथ्वी को झुलसा-झुलसाकर जला डालने की राक्षसी प्रवृत्ति पर जैसे धीरे-धीरे काबू पाते रहे हों, पैरों की थकावट ने अधिकार पूर्वक विचार-धाराओं के मार्ग में रुकावट डाली!

भर्तृहरि रुका!

दरख्त[1] की ठण्डी छाँह में बैठ गया, क्षणिक विश्राम की नीयत से विचार- ऊर्मियों से निकल कर चारों ओर देखा-पर, भैय्या थे कहाँ? जो दीख सकते! वही पेड़, गँवार की तरह जहाँ-तहाँ छाती ताने खड़े थे! सोचने लगा-' तलाश करना व्यर्थ है! अपने हिलमिल के साथ रहने तो आए नहीं, आए हैं आत्मोद्धार के लिए! और उसके लिए साथी की नहीं, आत्म-बल की जरूरत होगी! फिर बेकार!'

अब उसे चेत आया-' भूख लगी है उसे! प्यास से गला सूखा जा रहा है! सुबह से यह वक्त होने आया, खाया-पिया क्या है जरा भी तो नहीं, वह उठा, क्षुधा समस्या का हल खोजने और फिर जो

1. वृक्ष

कुछ वनप्रान्त के फल हाथ लगे, उन्हें गले के नीचे उतारा। कुछ तसल्ली जरूर हुई, लेकिन पानी से शान्त होने वाली प्यास ज्यों की त्यों बनी रही।

यह दूसरी बाधा थी, करीब-करीब असहनीय-सी। पानी की तलाश में घूमने लगा अब, डरावने वनों के बीच। लेकिन पानी था कहाँ, वहाँ? जहाँ-तहाँ निराशा, माया मारीचिका!

दिवाकर का विनाश-काल सन्निकट था! अभेद्य-अन्धकार वृक्षों की रमणीयतां को भयोत्पादन की वस्तु बना देने के लिए ललचा रहा था।.....

कि भर्तृहरि को दीखा-कुछ दूर घनी छाया को चीर कर ऊपर उठता हुआ, धुँआ-सा । हृदय ने कल्पना का सहारा लिया 'जरूर वहाँ कुछ मनुष्य होने चाहिए। जहाँ धुआँ है, वहाँ आग और फिर मानव का आग से गहरा सम्बन्ध है। मुमकिन है, वहाँ पानी पीने को मिल सके।'

पास पहुँच कर भर्तृहरि ने देखा-चारों ओर आग धधक रही है और बीच में सफेद बाल, सतेज ललाट और जटाओं से सुशोभित एक तपस्वी-राजसिंहासन पर विराजे-पंचाग्नि-तप, तप रहे हैं। शरीर में वृद्धता अवश्य है, लेकिन अशक्तिता नहीं। तपोबल ने उन्हें दीप्ति दे रखी हो जैसे।

समीप में झोंपड़ियाँ हैं-मृगचर्म, चीमटे, बाघम्बर, कोपीनें, कमण्डलु वगैहर से संयुक्त। जहाँ-तहाँ शिष्य समुदाय अपने कार्य

में संलग्न हैं। भर्तृहरि प्रभावित हुआ आडम्बर जो था प्रभावित करने के लिये ही शायद! नहीं, आत्मोत्थान के लिये बाहरी किस चीज की जरूरत ?.....

सिर नवा कर अभिवादन किया। तपस्वी राज ने समाधि-भंग की। बोले, मृदु-मुस्कान को बिखेरते हुए कहो, राजपुत्र यहाँ कैसे? राजपुत्र ने अपने आपको सौंपते हुए विनम्र भाव से उत्तर दिया- 'आपकी चरण-रज में!'

तपस्वीराज ने प्रसन्नता पूर्वक अनुमति दी-

'कल्याण होगा, बच्चा तेरा, अभय रह!'

और भर्तृहरि को तपस्वीराज का शिष्यत्व प्राप्त हुआ ही।-

समोद!

(3)

बारह सर्दी और बारह गर्मियाँ साधु-सेवा में बिता देने के बाद भर्तृहरि ने एक दिन तपस्वीराज से प्रार्थना की-'गुरुदेव ! अब मुझे एकाकी-विहारी की आज्ञा दी जाये। भैय्या की खबर लेने को जी कर रहा है, मुद्दत[1] हो गई-एक दूसरे से जुदा हुए।'

भर्तृहरि जो अब स्वयं एक प्रमुख-साधु के रूप में था। जन्त्र, मन्त्र तन्त्र सब में निपुण । अनेक विद्याओं का स्वामी।..... तपस्वीराज ने उसे सहर्ष आज्ञा दी। कुछ विद्याएँ दीं, और दी महा-मूल्य कलंक- रसे से भरी हुई- एक तूंबी। ताँबे को सोना बनाने की दुर्लभ वस्तु।

1. बहुत समय

भर्तृहरि कलंकरस पा आनन्द विभोर हो उठा। साधु सेवा की अन्तिम और कीमती भेंट ने उस मुग्ध कर दिय। पैरों में सिर डालकर उसने प्रणाम किया, और चला अपने शिष्य-दल-सहित-शुभचन्द्र की खोज में।

बहुत दूर कहीं, सुहावने स्थान में, भर्तृहरि ने अपना आश्रम बनाया। शिष्य, शुभचन्द्र की खोज में गये हुये थे-चारों ओर।

कई निराश लौटे। कुछ ने सफलता का समाचार कहा-'गुरुवर! आपके भैय्या को हम लोग खोज आये। वे गन्धमादन पर्वत पर ठहरे हुये हैं।'

भर्तृहरि की आँखें चमक उठीं, शायद भीतर का वात्सल्य जगमगा उठा था। गद्गद् कण्ठ से बोला-'अच्छा? कैसी दशा है-उनकी? चैन से तो हैं न?'

शिष्य गर्दन झुकाकर बैठा रहा, जैसे कड़वी बात कहने में उसे सकुचता हो रही हो।..... भर्तृहरि को न रुचा, यह। जल्दी से बोला-'बात क्या है, मुँह से बोल तो?'

कहने लगा-'भैय्या की दशा अच्छी नहीं है। घोर-दरिद्रता से दिन काट रहे हैं वे! अंगुल-भरकी कोपीन तक नहीं उनके पास। न रहने के लिये बिलस्त-भर जगह। खाने तक से मुहताज हैं। डेढ़ दिन रहा, और भूखा ही वापस आ रहा हूँ, खुद के खाने तक को तो है नहीं, खिलाते कहाँ से? मजबूरन उपवास करने पड़े।'

भर्तृहरि का सिर चकरा गया, भ्रातृत्व जो था उसके हृदय में। सोचता रहा, पल-भर। फिर बोला-'हूँ। यह बात है?'

और उसी वक्त उसने आधी तूंबी-कलंकरस भैय्या को दरिद्रता की प्रतिद्वन्दता के लिये-एक शिष्य के हाथों रवाना कर दिया।

(4)

कई दिन बाद, शिष्य लौट कर आया-थका, भयभीत-सा उदास!

भर्तृहरि ने पूछा-'कहो, प्रसन्न हैं न भैय्या?-'कलंक-रस' पाकर?'

वह बोला-'दरिद्रता ने भैय्या की अक्ल भी बिगाड़ दी है। कलंक-रस जैसी महावस्तु उनके नसीब में कहाँ?'

हैरत में भर कर भर्तृहरि बोला-'ऐ? क्या आधी तूंबी-रस गवाँ आया कहीं?'

शिष्य ने तफसील पेशकी[1]-'तूंबी देकर मैंने बता दिया उन्हें कि यह बहुमूल्य-रस तांबे को स्वर्ण बनाने की ताकत रखता है। आपकी दरिद्रता से दु:खित होकर भैय्या ने यह कठिनसाध्य वस्तु आपके लिए भेजी है। स्वीकार कीजिये-इसे!

उन्होंने उपेक्षा से एकबार तूंबी की ओर देखा, फिर बोले-'पटक दो इसे, सामने के पत्थरों पर।' मैं घबड़ाया-'कह क्या रहे हैं ये?' वे फिर बोले-'कह तो रहा हूँ-पटक दो इसे पत्थरों पर।' मैं संकट में था-एक ओर कुआँ, दूसरी ओर खाई। किसकी आज्ञा पालन करूँ? -सोचने लगा। आखिर तय किया - 'बड़े भाई की

1. स्थिति से अवगत कराया

प्रसन्नता के इच्छुक हैं। बड़े भाई की आज्ञा भंग, छोटे भाई को दु:खद न हो।' और तभी मैंने कलंकरस पत्थरों पर उडेल दिया।'

भर्तृहरि के हृदय पर जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया 'आह!'

वह मर्माहत -सा, बैठा का बैठा रह गया! जैसे चैतन्यता खो बैठा हो!

(5)

उस रात भर्तृहरि को नींद न आई। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह सो न सका! चिन्ताएँ जो मन को उद्वेलित किये हुए थीं।

वह खीजा हुआ था-अपने आप पर। सोच रहा था-भूल मैंने ही की है। इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ कहीं यों भेजी-मँगाई जाती है। ऐतिहायत भी तो कोई चीज है-आखिर! असम्भव नहीं, कि शिष्य ने भैय्या को रस की ठीक-ठीक महत्ता ही न बताई हो और उन्होंने उसे वैसा ही कुछ समझ लुढ़का देने की आज्ञा दे दी हो।'

देर तक वह लुटे हुये धनिक की तरह से सोचता विचारता रहा। और जब सुबह उठा तो एक निश्चय की दृढ़ता उसके साथ थी। रस की बरबादी और भैय्या की दुरावस्था ने उसे काफी असन्तोष दे रखा था। लेकिन वह था, जो असन्तोष के बीच में सन्तोष का साम्राज्य कायम करने का बीड़ा उठाये हुये था।

भ्रातृत्व की पुनीत भावना से प्रेरित भर्तृहरि चला, स्वयम् आधी-बची कलंक-रस तूंबी लेकर। दूसरों पर से यकीन जो जाता रहा था उसका! भैय्या को आँखों से देख लेने की क्षुधा जो जाग्रत हो उठी थी-मन में।

दूर से देखा, कि कृश शरीर-तपोबल से उद्दीप्त-एक स्वच्छ पाषाणखण्ड पर विराजा हुआ है-नग्न! आँखों ने पहिचाना- भैय्या ही तो हैं।' और वह गद्‌गद् हो उठा। चरणों में गिरकर अभिवादन किया सप्रेम!

शुभचन्द्र ने नजर उठाकर देखा, तो भर्तृहरि। गेरुआ वस्त्रों से मण्डित, जटाओं से शोभित, मृगचर्म से संयुक्त!

धर्मवृद्धि दी!

भर्तृहरि बोला-' भैय्या ! जैसे ही सुना, कि तुम संकट में हो, आधी तूंबी कलंकरस भेज दिया था। लेकिन वह व्यर्थ गया ! अब शेष आधी तूंबी भी लेकर उपस्थित हुआ हूँ!'

'हाँ! क्या होता है इससे-वत्स ?'

'सोना बनाया जाता है-भैय्या ! बड़ी बेशकीमती चीज है!'

'सोना ?'-शुभचन्द्र ने पूछा, और तूंबी उठा कर पत्थर पर पटक दी ! कलंक रस बह कर जाने लगा, पतन की ओर निराश्रित-सा ! भर्तृहरि सन्न!!!

शुभचन्द्र बोले- 'कहाँ हुआ सोना ? देख रहे हो।

भर्तृहरि सोना बनता है। तुमने यह क्या किया उफ्? बारह वर्ष गुरु की सेवा करने पर इसे पा सका था मैं। ओफ्! यह दुर्लभ- वस्तु न तुम्हारे काम आयी न मेरी रही!

शुभचन्द्र मुस्कराये-भर्तृहरि की सरलता पर, भोलेपन पर! फिर बोले-' भर्तृहरि ! तुम विराग के लिये, यहाँ आये थे, धन

दौलत, मान-सम्मान और राज्य-लक्ष्मी को ठुकराकर मैं देख रहा हूँ-सोने के लोभ को यहाँ आकर भी तुम नहीं छोड़ सके हो। आज भी तुम में कलंक बाकी है। इतने वर्ष बिताकर भी विराग की तह तक नहीं पहुँच पाये हो? सोने की इच्छा ही जीवित रखनी थी, तो विराग की पवित्रता को मलीन करने क्यों आए-यहाँ ? इसे विराग नहीं, दम्भ कहते हैं-भोले प्राणी!'

भर्तृहरि को अपने भीतर कुछ उजेला-सा होता मालूम दिया! शुभचन्द्र कहते गये-'सोने की ही इच्छा है तो लो कितना सोना चाहते हो?

और अपनी चरण रज को चुटकी में भरकर, उस विशाल पाषाण- खण्ड पर छोड़ दी!

तपोबल की अचिन्त्य-शक्ति!!!

वह सारा पत्थर सोना बन गया ! भर्तृहरि आँखें फाड़े देखता-भर रह गया-अचम्भित-सा!

हृदय भर आया उसका। भैया की तपस्या ने मोह लिया! पैरों में गिरकर बोला-मुझ डूबते को उबारिए-महाराज!! मैं अपने को आपके चरण-शरण में अर्पण करता हूँ।'

सरस्वती का उपासक
लक्ष्मी की छलनाओं में
नही आता।

आत्मोद्धार के अभिलाषी सतयुग कलयुग की ओर नहीं देखते, न विचार में रहते हैं कि बुढ़ापे के दिनों में धर्म-साधन कर लेंगे। चूँकि बुढ़ापा अक्सर जिन्दगी का एक बेकार हिस्सा होता है। तब, न तो दिमाग ठीक ढंग से काम करता है, न शरीर। अलावा इसके तब तृष्णा भी इतनी बढ़ जाती है कि अजहद[1]! जो विशेष धर्म-साधन की बात तो दर-किनार, दैनिक-धर्म के लिये भी असमर्थता उपस्थित कर देती है। और आत्म विकास के इच्छुक इसीलिये न अपनी नौजवानी देखते हैं न दूसरी बाधायें । वे देखते हैं एक चीज, सिर्फ एक चीज ..... कि आत्म-प्रेरणा के भीतर अटलता कितनी है ?- बस!

8. राजपुत्र

श्रावकोत्तम वारिषेण जनता की नजरों में राज-पुत्र जरूर था, समृद्धि के आलोकित भवन में वह खेल-कूद कर बड़ा हुआ था। स्त्री की दृष्टि में वह उसका पति था, नौजवान था, सब-कुछ था। लेकिन वह था, जो अपने लिये, अपनी नजर में एक सन्यासी था,आत्मोन्नति का इच्छुक था, अध्यात्म विद्या का विद्यार्थी था। उसे दुनिया की चीजों और बातों से उतना ही वास्ता था, जितना कि वह दुनियाँ में रहता था। ज्यादातर वक्त उसका उस नई दुनिया से

1. बहुत

गुजरता जिसे स्वयं उसकी महत्भावनाओं ने बसाया था नाम था उसका 'आत्म-पुर'। हाँ, तो वह उसका राजकुमार नहीं, राजा था, स्वयं राजा! और उसका कार्य था केवल एक आत्मचिन्तन!

तो वारिषेण था, राजगृह नगर के महाराज श्रेणिक का पुत्र। माता का नाम था-चेलना। वह श्रेणिक और चेलना दोनों की धार्मिकता का प्रतीक था। दूसरे शब्दों में योग्य माता-पिता का योग्य पुत्र था। पिता अगर 'धर्म' था, तो माता थी-दया; और दोनों के संयोग से जो पैदा हुआ, वह था -विराग'।

सच, वारिषेण विरागी-राजकुमार तो था ही शक क्या? रात- दिन एक धुन, एक लगन-आत्मचिन्तन!

सुन्दर, शरीर, माँ-बाप की दुलार दृष्टि, अपार धन-राशि और सारे सुख-साधन। सबके बाद जवानी की उम्र। पर, वारिषेण को जैसे इन सबकी कोई खबर ही नहीं थी। एक दिन को भी उसने यह न जाना कि जवानी का कुछ भी असर उसे पतन की ओर ढकेलना चाहता है। दूसरी कुछ बातें सोचने के लिये उसके पास वक्त जो नहीं था।

माँ-बाप, वारिषेण की आध्यात्मिकता पर फूले नहीं समाते, क्योंकि वह स्वयं धार्मिक जो थे! फिर, पुत्र की महानता पर उन्हें गर्व जो था, काना, बद-शकल या रोगी पुत्र भी तो माँ-बाप की खुशी का सबब होता है। फिर ऐसे गुणी-बालक पर कौन-सा ऐसा हृदय होगा, जो प्यार न करे?

चतुर्दशी की अन्धेरी रात ! अभी-अभी दिन छिपा है। हवाखोरी के लिये जाने वाले भी अभी नहीं लोटे हैं। सूर्यास्त हो चुका है। पर अभी ज्यादा अन्धेरा हो, ऐसा नहीं है।

सड़क के थोड़े फासले पर जो श्मशान है, वारिषेण उसमें आज रात बिताएगा-कायोत्सर्ग, दिगम्बर-रूप, ध्यानारूढ़। वह ध्यान-योग्य-जीव-जन्तु रहित-भूमि का परिशोधन कर रहा है!

सड़क पर लोग आ-जा रहे हैं। किसी का ध्यान उधर नहीं। फिर कुछ दूर भी तो है-सड़क से। और श्मशान को देखना चाहे भी कौन? वह जो डरावना, भयप्रद और अवांछनीय स्थान होता है। कुछ अन्धेरा हो चला है। लोग वापस लौटने लगे हैं। वारिषेण ध्यानस्थ हो चुका है।-सुन्दरी भी लौट रही है- कुछ सुस्त-सी, उदास! पैर गन्ध-लड़खड़ा से रहे हैं! जैसे चलने की ओर उसका जरा भी ध्यान न हो। मन उसका शायद उद्विग्न है, तभी मुँह पर विषाद की रेखायें अङ्कित हो आई हैं।

गन्ध सुन्दरी है, नगर की ख्याति प्राप्त विलासनी वेश्या कामियों की विलास-भूमि!

वह सोचती जा रही है। बस, सोचती जा रही है कदम-कदम पर। चलने का काम पैरों के सुपुर्द कर चुकी है। '.....कैसा सुन्दर है, वह हार? उसके बिना जीवन में स्वाद ही क्या? सब-कुछ पाया है-मैंने । मगर वह नहीं, तो कुछ भी नहीं! वह जो ऐसी ही चीज है! काश! वह मुझे मिल सकता, मेरे पास होता। कितनी

अच्छी लगती मैं उसे पहन कर। जो देखता–धक् रह जाता ! आभूषण ही तो रूप के सहायक होते हैं। रूप! रूप भी जैसे पाकर उसे खिल उठता है!'

पैरों की तरह विचार भी गतिशील हैं। 'कितना कीमती है। वह हीरकालङ्कार? ज्योति से आँखें चौंधने–सी लगती हैं। नरनिर्मापित न हो, जैसे देव–प्रणीत हो । सचमुच महा–भाग्यशाली हैं–श्रेष्ठी श्रीकीर्ति ! जिसकी गर्दन में पड़ा वह हिलोरें लिया करता है–आह!'

मानसिक वेदना के मारे जैसे वह कराह उठी। अपने ही विचारों में उलझी, गन्ध सुन्दरी चल रही है जमीन पर ! पर, मन उसका जैसे चला गया है दूर–उसे छोड़ कर, श्रीकीर्ति सेठ के बेश–कीमती हार के साथ–साथ, उनके घर। उसे पता नहीं, कहाँ चल रही है, कितनी दूर और चलना है; या कौन चल रहा है उसके साथ–साथ ?

वह बड़बड़ाने लगी–अपने आप!–

'आई थी हवाखोरी के लिये, तबीयत बहलेगी, चित्त शांत होगा। और हुआ वह कि–भीतर आग–सी दहक उठी है, दिल में बेकली[1] भर गई है, जुबान खुश्क हो चली है। देह जल रही है, जैसे बुखार हो आया हो।'

1. बेचैनी

(2)

रात काफी बीत चुकी, तब आया–'विद्युत!' रोज की तरह स–गर्व, प्रसन्न और बेधड़क। उसे पता नहीं था कि आज विलास–भवन में शून्यता है, छुट्टी है। वह जो गन्ध सुन्दरी का अनन्य प्रेमी है। दैनिक आगन्तुक है–इस विलास–भवन का जहाँ धर्म और विवेक की होलियाँ जला करती हैं।

सेविका ने बताया–'मालकिन की तबीयत अलील[1] है, वे आज बाहर न आयेंगी।'

पर, विद्युत पर इसका क्या असर होता, वह जो सभ्य नहीं था। निषेध की मान्यता सभ्यता तक ही तो है। चोरों के लिये ताले क्या? वे दूसरे थे जो लौटकर चले गये। यह था–विद्युत! यह वैसा नहीं था, जैसे दूसरे थे! यह था–चोर! अपने फनका उस्ताद! नामजद और सफल !

'वे बाहर न आयेंगी, न सही, मैं तो भीतर जा सकता हूँ!' सेविका जब तक कुछ कहे, विद्युत कमरे के अन्दर! गन्ध–सुन्दरी बेसुध–सी लेटी तड़प रही थी–अन्दरूनी तकलीफ के मारे! जेवरात के लिये मृतक से जीवित होने वाला स्त्री–हृदय ललचाकर हताश हुआ जा रहा था कि सामने विद्युत!

विद्युत का आना उसे अच्छा न लगा। पर वह उसे डाँट भी न सकी, वह जो उसे खुले हाथों से देता है–धन! जिसकी कि एक वेश्या होती है–दासी ! और आज जो वह इतनी धनी है....वह

1. खराब

विद्युत की ही तो कृपा है यह। अब अचानक आँख बदलते, एहसान- फरामोशी करते उसे कुछ सोचना पड़ा। और वह चुप रही, ठीक बीमार की तरह!

विद्युत का मन यह देख दु:ख-सा उठा! पुरुष जो था वह पुरुष स्त्री की पीड़ा को कब देख सका है? स्वभावत: ही वह उसके लिये नरम रहा है। फिर, यह तो स्त्री थी वेश्या, और पुरुष था उसका प्रेमी, अटूट प्रेमी! बात-बात पर पसीने की जगह खून बहाने क दावा करने वाला। देर तक नाज-नखरे और करीब-करीब बेकार सी बातें होती रहीं। आखिर विद्युत यह जानकर ही रहा कि उसकी प्रेमिका-उसकी खुशी-क्यों उदास है। क्षण भर वह रहा चुप!

कि गन्ध सुन्दरी ने चुटकी ली, वेश्यावृत्ति के कौशल का एक नमूना सामने रखा-'अब हो गई न दम खुश्क? कह रही थी- पूछकर क्या करोगे?-न माने! मजा आता है तुम्हें, जले को जलाने में। मैं भूल रही थी उस बात को, भूलने न दिया मुझे! बोलो, क्या मिला तुम्हें? छि: ! कोई ऐसा तो आया न, कि कहता-'लो यह हार! पहिनो!'..

और वह रोने लगी!

मानव, मन को पिघलाने के लिए अमोघ जो होती है- रुदन अग्नि! .... अचूक वशीकरण, या नारी का दिव्यास्त्र!

विद्युत को लगा-जैसे यह सब उसकी शक्ति सामर्थ्य के लिये चुनौती हो, उसकी अक[illegible] रुदन न होकर, व्यंग्य

हास्य हो । ठेस लगी उसकी उन बातों को, जिन्हें वह रोज आ- आकर अपनी आत्म-प्रशंसा के लिये कहा करता था। निर्बल-नारी के आगे दयनीय बनना मनुष्य को मृत्यु से भी ज्यादा बुरा लगता रहा है। वह उसे कैसे बर्दाश्त करता?

बड़ी साधना के साथ बोला, आवाज में दबंगपन था- 'चलो! रोती हो?-अरे, क्यों? मैं जो अभी जिन्दा खड़ा हूँ-सामने! उसे लाना क्या मेरे लिए भी मुश्किल होगा? जानती नहीं जैसे, मैं कौन हूँ? चोर। चोर के लिये क्या कठिन? सोचो तो, इतनी उम्र तक किया क्या है-इसके सिवा?'

सुन्दरी ने प्यार प्रदर्शित करते हुये कहा-'क्या, सच?'

विद्युत ने अभिमान के साथ उत्तर दिया- 'कैसी बातें करती हो? हार न चुरा सकूँ तो मुँह न दिखाऊँ!'

और वह उसी दम कमरे से बाहर हो गया।

सुन्दरी देखती रह गई-एकटक, पत्थर की मूर्ति की तरह।

(3)

विद्युत की मेहनत सफल हुई, वह 'हार' चुरा सका। खुशी और पकड़े जाने की आशङ्का दोनों से धढ़कते हुये कलेजे की आवाज सुनता हुआ, वह चला। हार छिपा हुआ था-एक छोटे से वस्त्र में, पर, वस्त्र हो रहा था उसकी चमक छिपाने में असमर्थ! जैसे विरागी के मन पर वासना काबू नहीं पाती। बेशकीमती हार की झलझल जो कर रही थी।

विद्युत की किस्मत! कोतवाल ने देख लिया उसे, झलझल करती हुई कोई महान वस्तु ले जाते हुये।.....

कौन? क्या लिए जा रहा है-इस वक्त! चोर.....! चोर..... ठहर तो?

पर, विद्युत को ठहरना कहाँ था, भागा जोर से जितना भाग सकता था, शहर से दूर - आबादी से दूर!

लेकिन मुसीबत सिर पर सवार थी। पास ही था कि पकड़ जाता। मगर पकड़ा नहीं गया! युक्ति जो सूझ गई उसे अचानक अपने बचाव की! यह, कि हार की पोटली श्मशान में खड़े वारिषेण के आगे पटक, वह खुद छिप गया-पास ही के झाड़ों से ढँके हुये गर्त में!

कोतवाल आया, राज-कर्मचारी आये, और आये अनेक वे नागरिक, जिन्हें ऐसी बातों में रस मिलता था।

देखो तो, सब दंग।

विस्मित! अत्याश्चर्यित

सब हाँफ रहे थे। पीछा जो करते आ रहे थे दूर से, भागते हुये कोतवाल की वाणी मुक्त हुई 'हँय! राजकुमार वारिषेण?.. छिः!'

और उसने हार की पोटली उठा, अपने कब्जे में की।

किसी के मुँह से बोल नहीं निकल रहा था! सबके सामने चित्र का एक नया पहलू था। नई समस्या थी-ऐसी, जिसे उन्होंने स्वप्न में भी न देखा, न सोचा था।

'चलो, राजकुमार! अब यह दम्भ बेकार है। तुम्हारे विरागी- जीवन का रहस्य खुल चुका है। दो नहीं, सैकड़ों

आँखों ने देखा, दूर से देखती आई, कि तुम संन्यासी की आड़ में, चोर हो, पक्के चोर।'-कोतवाल ने अधिकार-पूर्वक सफल-मनोरथ व्यक्ति की तरह कहा।

(4)

सबने समझाया, प्रार्थना की, जीवन-भिक्षा भी माँगी गई-राजकुमार की। लेकिन सब निष्फल। महाराज श्रेणिक ने किसी पर विचार करने की तकलीफ गवारा[1] की। वह जो काफी सोच-विचार के बाद भीतर ही भीतर विचार मुस्तकिल[2] कर चुके थे।

वह बराबर यही कहते गये-**'मैं पहले शासक हूँ-न्यायाधीश हूँ-पीछे पिता का दिल, न्याय पर हमला जरूर करता है, लेकिन कर्त्तव्य जो मुकाबिला कर उसे परास्त कर रहा है। मुझे न्याय के आसन पर बैठ कर न्याय ही करना चाहिये, पक्षपात नहीं। यह बुरा है, न्याय की हत्या है।'**

कहा गया- 'पिता के मुँह से पुत्र के वध का हुक्म अप्राकृतिक है, आदर्श का विरोधी है, और है शोचनीय!'

महाराज बोले-'मैं चोर' को सजा दे रहा हूँ, 'पुत्र' को नहीं। मैं उस छलिया, धर्म को लाँछन लगाने वाले अपराधी को मृत्यु-दण्ड दे रहा हूँ, किसी अपने दुलारे को नहीं। कानून तो कसूरवार को देखता है, कसूरवार की खासियत को नहीं। मैं विवश हूँ। मुझे उस 'गलाव' का ऑपरेशन कराना ही चाहिए, जो भयानक हो चुका है। भले ही वह शरीर का एक अङ्ग हो।'

1. अनुकूल, सहने योग्य 2. दृढ़, पक्का

कौन? क्या लिए जा रहा है-इस वक्त! चोर.....! चोर..... ठहर तो?

पर, विद्युत को ठहरना कहाँ था, भागा जोर से जितना भाग सकता था, शहर से दूर - आबादी से दूर!

लेकिन मुसीबत सिर पर सवार थी। पास ही था कि पकड़ जाता। मगर पकड़ा नहीं गया! युक्ति जो सूझ गई उसे अचानक अपने बचाव की! यह, कि हार की पोटली श्मशान में खड़े वारिषेण के आगे पटक, वह खुद छिप गया-पास ही के झाड़ों से ढँके हुये गर्त में!

कोतवाल आया, राज-कर्मचारी आये, और आये अनेक वे नागरिक, जिन्हें ऐसी बातों में रस मिलता था।

देखो तो, सब दंग।

विस्मित! अत्याश्चर्यित

सब हाँफ रहे थे। पीछा जो करते आ रहे थे दूर से, भागते हुये कोतवाल की वाणी मुक्त हुई 'हॅय ! राजकुमार वारिषेण ?.. छि: !'

और उसने हार की पोटली उठा, अपने कब्जे में की।

किसी के मुँह से बोल नहीं निकल रहा था! सबके सामने चित्र का एक नया पहलू था। नई समस्या थी-ऐसी, जिसे उन्होंने स्वप्न में भी न देखा, न सोचा था।

'चलो, राजकुमार! अब यह दम्भ बेकार है। तुम्हारे विरागी- जीवन का रहस्य खुल चुका है। दो नहीं, सैकड़ों

आँखों ने देखा, दूर से देखती आई, कि तुम संन्यासी की आड़ में, चोर हो, पक्के चोर।'-कोतवाल ने अधिकार-पूर्वक सफल-मनोरथ व्यक्ति की तरह कहा।

(4)

सबने समझाया, प्रार्थना की, जीवन-भिक्षा भी माँगी गई-राजकुमार की। लेकिन सब निष्फल। महाराज श्रेणिक ने किसी पर विचार करने की तकलीफ गवारा[1] की। वह जो काफी सोच-विचार के बाद भीतर ही भीतर विचार मुस्तकिल[2] कर चुके थे।

वह बराबर यही कहते गये-**'मैं पहले शासक हूँ-न्यायाधीश हूँ-पीछे पिता का दिल, न्याय पर हमला जरूर करता है, लेकिन कर्त्तव्य जो मुकाबिला कर उसे परास्त कर रहा है। मुझे न्याय के आसन पर बैठ कर न्याय ही करना चाहिये, पक्षपात नहीं। यह बुरा है, न्याय की हत्या है।'**

कहा गया- 'पिता के मुँह से पुत्र के वध का हुक्म अप्राकृतिक है, आदर्श का विरोधी है, और है शोचनीय!'

महाराज बोले-'मैं चोर' को सजा दे रहा हूँ, 'पुत्र' को नहीं। मैं उस छलिया, धर्म को लाँछन लगाने वाले अपराधी को मृत्यु-दण्ड दे रहा हूँ, किसी अपने दुलारे को नहीं। कानून तो कसूरवार को देखता है, कसूरवार की खासियत को नहीं। मैं विवश हूँ। मुझे उस 'गलाब' का ऑपरेशन कराना ही चाहिए, जो भयानक हो चुका है। भले ही वह शरीर का एक अङ्ग हो।'

1. अनुकूल, सहने योग्य 2. दृढ़, पक्का

राज-आज्ञा।

अटलनीय राज-आज्ञा।

न्याय के आगे ममत्व की पराजय हुई। सबको चुप रहना पड़ा।

वारिषेण सोच रहे थे-'संसार की अद्‌भुतता। भाग्य की विचित्रता।'

(5)

वध-स्थल

ठीक महाराज के मन की तरह भीड़ उमड़ी आ रही थी, एक महान व्यक्ति को सजा जो दी गई थी। एक ओर खड़े हुये थे महाराज श्रेणिक। आँखें उनकी डबडबा रही थीं, मुँह पर पीलापन और उदासी थी। जुबान खुश्क और दिल धड़क रहा था। जैसे दम घुट रहा हो। सोच रहे थे, स्तब्ध। 'काश! जीवन-भर मैं पुत्र के अध्यात्म-प्रेम और महान् व्यक्तित्व पर प्रसन्न रह सकता! यह दिन देखने को मिल रहा है!' .....कि आज मुझे यह दिन देखने को मिल रहा है!'

सामने वारिषेण खड़ा है-कर्मचारियों की संरक्षिता में जंजीरों से जकड़ा हुआ। पास ही बैठा है-जीवन की मृत्यु का स्वाद चखने के लिये, नंगी तलवार थामे जल्लाद।

श्मशान शान्ति।

गर्दन झुका दी गई। और वह उठी तलवार उफ! महाराज देख न सके यह दृश्य, आँखें मींच ली. ..... आह ! उनका हृदय फटा जा रहा था। चाहते थे कि चिल्ला पहूँ-'छोड़ दो, मेरे लाल को।' पर,

यह क्या ? -'कैसी जय ध्वनि ? कैसी पुष्प वृष्टि ?' महाराज ने आँखें खोल दीं।

देखा- जल्लाद का हाथ उठा हुआ है, ठीक पहले की तरह। पर, हाथ में प्राण-भक्षी तलवार की जगह है-पुष्प माला। वह झूल रही है वारिषेण के सिर पर। जैसे चँवर ढुल रहे हों। वारिषेण सिंहासन पर विराजा हुआ है-साकार देवत्व की भाँति । दर्शक जय घोष से आकाश गुँजा रहे हैं, आकाश बरसा रहा है-फूल।

उस महानता के सन्मुख सैकड़ों सिर झुके हुए थे। महाराज भी अटल न रह सके। वे-तहाशा दौड़कर चरणों में माथा नवाया, और रुँधे कण्ठ से बोले-'माफ करो पुत्र ! मेरी भूल को।'

.....कि इतने में विद्युत आया, अभय और विशुद्ध-'असल अपराधी हूँ-मैं। मैंने ही हार चुराया था और अपनी रक्षा के लिए, इस पुरुषोत्तम के चरणों में डालकर छिप रहा था।'

सब अवाक्।

महाराज ने बहुत चाहा, कहा-सुना। पर, वारिषेण ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। शायद बधिर बन चुका था-ममत्व की महाराज ने बहुत चाहा, कहा-सुना। पर, वारिषेण ने बातें सुनने के लिये।

बोला-'**अब दुनिया के अधिक तमाशे देखने को भूख बाकी नहीं है।**'

-और चल दिया, निर्ममत्व होकर निर्वाण के पथ पर।

"धिक्कार कामुकता को जो
ज्ञान को अन्धा करके
भाई की
हत्या तक को
उतारू बना देती है।"

9. पाप का प्रायश्चित्त

इससे पहले उन्होंने और कुछ देखा-पहिचाना ही नहीं। लम्बे-लम्बे दिन आते, रातें आतीं और चली जातीं। सप्ताह, मास, वर्ष बनकर बहुत-सा समय निकल गया। लेकिन उन्होंने उसको और देखा तक नहीं। देखते-विचारते तो तब, जब अवकाश होता। दैनिक- कार्यक्रम ही इतना सीमित, इतना व्यवस्थित और इतना नियन्त्रित था कि विद्या-मन्दिर के अतिरिक्त भी पृथ्वी पर कुछ और है, इस तक का उन्हें पता न लगा। अध्यापक की गम्भीर-मुद्रा और पाठ्य- पुस्तकें बस, इन्हीं दो तक उनका ध्यान, उनकी दृष्टि सीमित रही। कितना परिवर्तन हो चुका था-अब। जब महाराज ने साक्षर बनाने के लिए सौंपा था, तब दोनों अबोध बालक के रूप में थे लेकिन आज.....? वे दोनों स्नातक[1]-स्वस्थ, सक्षम-यौवन, महाविद्या-विभूषित परिपुष्ट राज बनकर महाराज के सामने जा रहे हैं।

अध्यापक सागरघोष के हर्षोन्मत्त-हृदय की क्या आज कल्पना की जा सकती है.....? इन्हें एक अवर्णनीय-सुख का अनुभव हो रहा है। वह आज अपने कठिन परिश्रम का दरबार में

1. स्नातक

प्रदर्शन करायेंगे। आज का दिन उनके लिये सफलता का दिन है।

सिद्धार्थ नगर के महाराज क्षेमंकर के दो पुत्र हैं-एक देशभूषण दूसरे कुलभूषण।

(2)

'महाराज की जय हो!'

एक हर्ष-भरे जय घोष के साथ दरबार में कुछ व्यक्तियों ने प्रवेश किया।

महाराज ने देखा-उन्हीं के आत्मज तो हैं। खुशी का पारावार नहीं! चिर पिपासित-उत्कण्ठा नृत्य कर उठी! क्या इससे भी अधिक कोई हर्ष का अवसर होगा?.... महाराज अपनी पद-मर्यादा भूल गये। वात्सल्य ने उन्हें ओत-प्रोत कर दिया। सिंहासन पर वे स्थिर न रह सके। उतरे, स-भक्ति दोनों ने चरण-स्पर्श पूर्वक प्रणाम किया। महाराज ने किया प्रगाढ़ प्रेमालिङ्गन। और सब यथास्थान बैठे। अब महाराज, सागर घोष की तरफ मुखातिब[1] हुए। एक कृतज्ञता-भरी नजर से उनकी ओर देखा। कुछ मुस्कराये भी उन्होंने कर-बद्ध नमस्कार किया।

इसके बाद-बातें प्रारम्भ हुईं। पहिले राजकुमारों के विद्याध्ययन की। फिर कुमारों की योग्यता-परीक्षा-सम्बन्धी। तदुपरान्त महाराज ने राजकुमारों की विवाह-चर्चा में योग दिया-"क्या वे सब राजकन्यायें आ गईं, जो राजकुमारों के लिये तजवीज[2] की गई हैं?"

1. किसी की ओर अभिमुख 2. निर्वाचन

''धिक्कार कामुकता को जो
ज्ञान को अन्धा करके
भाई की
हत्या तक को
उतारू बना देती है।''

9. पाप का प्रायश्चित्त

इससे पहले उन्होंने और कुछ देखा-पहिचाना ही नहीं। लम्बे-लम्बे दिन आते, रातें आतीं और चली जातीं। सप्ताह, मास, वर्ष बनकर बहुत-सा समय निकल गया। लेकिन उन्होंने उसकी ओर देखा तक नहीं। देखते-विचारते तो तब, जब अवकाश होता। दैनिक- कार्यक्रम ही इतना सीमित, इतना व्यवस्थित और इतना नियन्त्रित था कि विद्या-मन्दिर के अतिरिक्त भी पृथ्वी पर कुछ और है, इस तक का उन्हें पता न लगा। अध्यापक की गम्भीर-मुद्रा और पाठ्य- पुस्तकें बस, इन्हीं दो तक उनका ध्यान, उनकी दृष्टि सीमित रही। कितना परिवर्तन हो चुका था-अब। जब महाराज ने साक्षर बनाने के लिए सौंपा था, तब दोनों अबोध बालक के रूप में थे लेकिन आज..... ? वे दोनों स्मर[1]-स्वरूप, नव-यौवन, महाविद्या-विभूषित पण्डित राज बनकर महाराज के सामने जा रहे हैं।

अध्यापक सागरघोष के हर्षोन्मत्त-हृदय की क्या आज कल्पना की जा सकती है.... ? इन्हें एक अवर्णनीय-सुख का अनुभव हो रहा है। वह आज अपने कठिन परिश्रम का दरबार में

1. कामदेव

प्रदर्शन करायेंगे। आज का दिन उनके लिये सफलता का दिन है।

सिद्धार्थ नगर के महाराज क्षेमंकर के दो पुत्र हैं-एक देशभूषण दूसरे कुलभूषण।

(2)

'महाराज की जय हो!'

एक हर्ष-भरे जय घोष के साथ दरबार में कुछ व्यक्तियों ने प्रवेश किया।

महाराज ने देखा-उन्हीं के आत्मज तो हैं। खुशी का पारावार नहीं! चिर पिपासित-उत्कण्ठा नृत्य कर उठी! क्या इससे भी अधिक कोई हर्ष का अवसर होगा ?... महाराज अपनी पद-मर्यादा भूल गये। वात्सल्य ने उन्हें ओत-प्रोत कर दिया। सिंहासन पर वे स्थिर न रह सके। उतरे, स-भक्ति दोनों ने चरण-स्पर्श पूर्वक प्रणाम किया। महाराज ने किया प्रगाढ़ प्रेमालिङ्गन। और सब यथास्थान बैठे। अब महाराज, सागर घोष की तरफ मुखातिब[1] हुए। एक कृतज्ञता-भरी नजर से उनकी ओर देखा। कुछ मुस्कराये भी उन्होंने कर-बद्ध नमस्कार किया।

इसके बाद-बातें प्रारम्भ हुईं। पहिले राजकुमारों के विद्याध्ययन की। फिर कुमारों की योग्यता-परीक्षा-सम्बन्धी। तदुपरान्त महाराज ने राजकुमारों की विवाह-चर्चा में योग दिया-'क्या वे सब राजकन्यायें आ गईं, जो राजकुमारों के लिये तजबीज[2] की गईं हैं ?'

1. किसी की ओर प्रवृत्त 2. निरीक्षण

'जी, महाराज! आज्ञानुसार सारा प्रबन्ध उचित रीति से किया जा चुका है। सभी राजकुमारियाँ स-सम्मान ठहरा दी गई हैं .....।' सचिव महोदय ने उत्तर दिया।

'तो.... ? राजकुमारों को अवसर दिया जाना चाहिये ?'- महाराज ने कहा।

'अवश्य! प्रधान सचिव बोले।

(3)

प्रासाद के एक भव्य झरोखे पर राजकुमारों की नजर टिकी। एक अनिन्द्य-सुन्दरी, लावण्य की प्रतिमा, षोड़शी बाला बैठी - राज-पथ की ओर देख रही है।

पद, गतिहीन। वाणी स्तब्ध। और हृदय-विक्षुब्ध। बस देखते-भर रह गये-वे दोनों!

देशभूषण सोचने लगे-'कितनी मनोमुग्धकर है यह ?..... रूप पाया है-इसने ? .... यही मेरे योग्य है ! मेरा पाणिग्रहण इसी के साथ होना चाहिए! हजार शादियाँ भी कुछ नहीं, अगर यह मेरा अपनी न हुई तो ?....'

सहसा समीप खड़े हुए कुलभूषण की ओर नजर आ पड़ी। देखा तो वह भी एकटक। कीलितदृष्टि। भ्रमित-विचारों को ठेस लगी। मन कुछ दूसरी तरह का हो उठा।-'अगर कुलभूषण इस प्रेम के मैदान में सामने आये तो.... ? - तो.... फिर उपाय ? क्या उसके लिए उसे मैदान खाली कर देना पड़ेगा ? यह सुख-संकल्प, म आकांक्षा क्या यों ही छोड़ दी जा सकेगी ? और फिर वह इन्हें छ

भी सकता है क्या ? कदापि नहीं। हरगिज नहीं। वह अब इस रास्ते से तिलभर भी नहीं हट सकता। अब यह सब उसके वश की बात भी तो नहीं।... भ्रातृस्नेह... ?-ऊँह । उस पर कहाँ तक ध्यान दिया जा सकता है ? वहीं तक न, जहाँ तक प्रणय-बलिदान का अवसर न आये। फिर उसे भी तो सोचना आवश्यक है, सब मैं ही सोचूँ ? यह हो कैसे सकता है। वह मेरे पथ का बाधक न बने, हट जाये, यही ठीक है। वरन.... वरना मैं उसे जान से मार दूंगा और शादी मेरे ही साथ होकर रहेगी।.....

और उधर-

उधर छोटे साहिब-राजकुमार कुलभूषण-सोच रहे हैं-'साक्षात् अप्सरा तो है ही। मगर नारी ही माना जाय तो सौन्दर्य की सीमा! इससे अधिक सुन्दर कोई और हो सकती है, मुझे इसमें सन्देह है, विवाद है, मतभेद है। मेरा विवाह-संस्कार होगा तो इसी के साथ। मुझे दूसरी अन्य राजकन्याओं से कोई प्रयोजन, कोई वास्ता नहीं मेरा मकसद, मेरा विचार अनेक शादी करने का नहीं, मैं एक शादी करना चाहता हूँ। लेकिन मन की। तबियत की। और ऐसी, जो हजारों में एक हो। इसीलिये तो हमें यह मौका यह अवसर दिया गया है कि हम इच्छित-पत्नी निर्वाचन कर सकें। फिर भी, इतने अधिकार पर भी, इतनी स्वतन्त्रता पर भी हम निश्चेष्ट रहे तो यह अपनी मूर्खता होगी बड़ी मूर्खता!.....'

–सोचते जा रहे थे, शायद अभी बहुत कुछ सोचते। पर बड़े- भाई ने जो संक्षिप्त-दृष्टि इनकी ओर फेरी कि विचार-धारा का रुख पलट पड़ा। बोला एक दूसरे से कोई कुछ नहीं। जरूरत ही नहीं महसूस हुई किसी को कुछ जैसा सोचना ही दोनों का सब-कुछ हो। अरे! भाईसाहब भी तो....? लेकिन यह उनकी अनुचित चेष्टा है। उन्हें कुछ गम्भीरता से भी काम लेना चाहिये। प्रेम करें, बा- खुशी, शौक से करें। पर थोड़ा विचार कर तो किससे करना चाहिए, किससे नहीं। यों ही जिधर मुँह उठा, उधर ही। यह क्या? – थोड़ा मुझे भी रास्ता देंगे कि नहीं मैं क्यों हटने लगा अपने पथ से? वे ही न हट जाएँ। मैं छोटा हूँ कि वे? प्रेम करना वे ही तो जानते हैं, दूसरा तो कोई है-ही नहीं वाह! खूब रहे! पहिले वे चुन लें, फिर बचे-खुचे का मालिक मैं? यह हरगिज नहीं हो सकता वह बड़े हैं, उनका बड़प्पन, उनकी गुरुता तभी तक है जब तक मैं उस रूप में उन्हें मानता हूँ। वरनः इस प्रेम-युद्ध में वे बुरी तरह हारेंगे, मैं कठोर से कठोर शक्तियाँ भी अड़ाने में बाज न आऊँगा। भले ही मुझे भ्रातृ- रक्त से हाथ रंगने पड़ें। लेकिन मैं पीछे कदम न हटाऊँगा। इस सुन्दरी का गठ-बन्धन होगा मेरे ही साथ। देखेगें कौन रोकेगा तब?.....

दोनों ही की उग्र-विचार-धाराएँ अन्त में एक-मुख होकर वेग के साथ, दूषित-ढालू पथ की ओर बहने लगीं। मुखाकृति पर रौद्रता अधिकृत हो गई। दोनों ही प्रेम-पूर्ण हृदय कुछ विरसता-सी,

कटुता-सी अनुभव करने लगे। एक घातक संघर्ष-सा छिड़ गया, जिसने अन्तरंग की कोमलता का ध्वंस कर दिया। जन्म-जात स्नेह विद्यार्थी जीवन की अभिन्नता चिर प्रेम, सब कुछ, क्षण भर में अदृश्य!

दोनों अचल, अकम्प वहीं उसी वातायन के सामने, खड़े रहे! जैसे सजीव न हों, निर्जीव हों, पाषाण ही! और भी खड़े रहते- कुछ देर! हृदय की, नेत्रों की प्यास बुझाने, या कहें बढ़ाने के लिये! अगर उसी वक्त पीछे की ओर से याचक समुदाय विरदावलि न गा उठता!

'महाराजाधिराज सिद्धार्थ नगर नरेश महाराज क्षेमंकर, रानी विमला उनके ये युगल चाँद-सूर्य से पुत्र, तथा यह झरोखे में स्थित रम्भा-सी सुकुमारी भगिनी कमलोत्सवा चिरंजीव होउ.....।

हँय यह क्या?- दोनों ही कुमारों के मुँह से एक साथ निकला! तनी हुई भृकुटियाँ, स्वभाव पर आ गईं। विकारी नेत्र भूमि की ओर गये। घोर पाप!.....

उन्नत-शैल के शिखर से गिर गये हों, अचानक वज्राघात हुआ हो, या मर्म-स्थान में असह्य-यन्त्रणा दी गई हो! आहत-व्यक्ति की तरह दोनों कराह उठे।

जब दोनों की विचार धारा एक होकर एक-दिशा की ओर बह रही थी-

'.... उह! कितना छलमय है-यह संसार? मायावी....! यहीं पर ऐसे घृणित, अ-वर्णीय विचार उत्पन्न हो सकते हैं। ओफ!

मोह की महत्ता?-स्नेह के बन्धन.... स्वार्थी प्रेम?-कितने दूषित- विचार उत्पन्न कर दिये तूने।.... कुछ ठिकाना है? भ्रात की हत्या के लिये उद्धत हो गया। किसके लिए? -अपनी ही बहिन के लिए। छि:.... ।

बहिन...? -कमलोत्सवा हम दोनों की बहिन है। अहह, विद्याध्ययन ! तूने परिवार तक के परिचय से वंचित रखा। हम लोगों ने यह तक न जाना, परिवार में कौन-कौन है? अध्यापक, पाठ्य- पुस्तकें और विद्या-मन्दिर ये ही हमारी दुनिया रहे।

उफ! कितना जघन्य पाप कर डाला-हम लोगों ने! अपनी सहोदरा भगिनी पर कुदृष्टि ! कितना बड़ा धोखा खाया, जिसका हिसाब नहीं। लेकिन अब ...?

पश्चाताप के अतिरिक्त भी एक उपाय शेष है, जिसके द्वारा भूल का सुधार हो सकता है, वह पाप का प्रायश्चित!

-तो बस, 'हमें अब यही करना है!' और वे चल दिए-वगैर राज-कन्याओं का निरीक्षण किये हुए!

(4)

आखिर बात क्या हुई? यह रंग में भंग, रस में विष कैसा? सब चकित ! किसी की जिज्ञासा का उत्तर नहीं! स्वयं महाराज कारण समझने में असमर्थ हैं कि अनायास राजकुमार विरक्त हुए क्यों?... वे राज-कन्याओं का दिग्दर्शन करने आ गये थे विवाह संस्कार का आयोजन किया जा रहा था। और इसी बीच सुना जाता

है कि दोनों राजकुमार विश्वबन्धन-निराकरणार्थ विपिन-विहारी होने जा रहे हैं कि अतीव आश्चर्य!

अपार जन-समूह को साथ लिए, महाराज बढ़े चले जा रहे हैं। सभी हृदयों में विचित्र कोलाहल, अनोखा-ताण्डव और निराला संघर्ष हो रहा है।

और आगे बढ़ते हैं, देखते हैं और जो देखने में आता है, वह महाराज के स्नेही मन को प्रकम्पित किए बगैर नहीं रहता। वे मन्त्र-मुग्ध की तरह देखते-भर रह जाते हैं। हृदय की मूर्तिमान् होने वाली सुखद अभिलाषाएँ भविष्य के गर्भ में ही नष्ट हो जाती है! कैसा कष्ट है, महान कष्ट।

दोनों तरुण-राजकुमार वैराग्य वेश में, विश्व-विकार .. वर्जित, परम शान्ति-मुद्रा रखे, तिष्ठे हुए हैं।

धन्य!

संयम नियम से रहित
मनुष्य पशु समान है।
जब कि
सयंम नियम से
पशु 'देवत्व' को पाता है।

मोह की महत्ता?-स्नेह के बन्धन.... स्वार्थी प्रेम?-कितने दूषित- विचार उत्पन्न कर दिये तूने।.... कुछ ठिकाना है? भ्रात की हत्या के लिये उद्धत हो गया। किसके लिए? -अपनी ही बहिन के लिए। छिः.... ।

बहिन... ? -कमलोत्सवा हम दोनों की बहिन है। अहह, विद्याध्ययन ! तूने परिवार तक के परिचय से वंचित रखा। हम लोगों ने यह तक न जाना, परिवार में कौन-कौन है? अध्यापक, पाठ्य- पुस्तकें और विद्या-मन्दिर ये ही हमारी दुनिया रहे।

उफ! कितना जघन्य पाप कर डाला-हम लोगों ने! अपनी सहोदरा भगिनी पर कुदृष्टि ! कितना बड़ा धोखा खाया, जिसका हिसाब नहीं। लेकिन अब ... ?

पश्चात्ताप के अतिरिक्त भी एक उपाय शेष है, जिसके द्वारा भूल का सुधार हो सकता है, वह पाप का प्रायश्चित्त!

-तो बस, 'हमें अब वही करना है!' और वे चल दिए-वगैर राज-कन्याओं का निरीक्षण किये हुए!

(4)

आखिर बात क्या हुई? यह रंग में भंग, रस में विष कैसा? सब चकित ! किसी की जिज्ञासा का उत्तर नहीं! स्वयं महाराज कारण समझने में असमर्थ हैं कि अनायास राजकुमार विरक्त हुए क्यों?... वे राज-कन्याओं का दिग्दर्शन करने आ गये थे विवाह संस्कार का आयोजन किया जा रहा था। और इसी बीच सुना जाता

है कि दोनों राजकुमार विश्वबन्धन-निराकरणार्थ विपिन-विहारी होने जा रहे हैं कि अतीव आश्चर्य!

अपार जन-समूह को साथ लिए, महाराज बढ़े चले जा रहे हैं। सभी हृदयों में विचित्र कोलाहल, अनोखा-ताण्डव और निराला संघर्ष हो रहा है।

और आगे बढ़ते हैं, देखते हैं और जो देखने में आता है, वह महाराज के स्नेही मन को प्रकम्पित किए वगैर नहीं रहता। वे मन्त्र-मुग्ध की तरह देखते-भर रह जाते हैं। हृदय की मूर्तिमान् होने वाली सुखद अभिलाषाएँ भविष्य के गर्भ में ही नष्ट हो जाती है! कैसा कष्ट है, महान कष्ट।

दोनों तरुण-राजकुमार वैराग्य वेश में, विश्व-विकार वर्जित, परम शान्ति-मुद्रा रखे, तिष्ठे हुए हैं।

धन्य!

संयम नियम से रहित
मनुष्य पशु समान है।
जब कि
सयंम नियम से
पशु 'देवत्व' को पाता है।

10. रात की बात

कुछ भक्त, जयध्वनि से आकाश गुंजाते हुए महाराज सागरसेन को पहुँचाने के लिए तपोवन तक आये थे ! लेकिन शृगाल ने समझा-'कोई मुर्दा आया' और मन खुशी का अनुभव करने लगा। स्वार्थ पूर्ण दृष्टिकोण का यही तो रूप है। वस्तु का दूसरा पहलू उसकी आँखों से ओझल रहता है, उसे नहीं देख पाता। देखने की इच्छा भी उसकी नहीं रहती वह जो स्वार्थ के मार्ग का काँटा- सा दिखाई देता है।

भक्तजन जब वापस लौट गए, तो शृगाल चला बचे-खुचे मृतक शरीर की आशा में-स्वार्थ के रास्ते पर ।

पर वहीं जो देखने को उसे मिला वह स्वार्थ का दूसरा पहलू था- एक दम विपरीत, नीरस। न धधकती चिता थी, न अर्ध-दग्ध शव। वह खड़ा रह गया, कुछ दु:खित-सा। आशा जो निराशा में तब्दील हो चुकी थी।

तपोनिधि सागरसेन ने देखा उसे। और फिर उसकी मनोव्यथा छिपी न रह सकी। शृगाल की दयनीय स्थिति ने स्वाभाविक हृदय में और भी दया की पावनता को गहन कर दिया। तभी अवधिज्ञानी ने महाराज को बताया- 'शृगाल भव्य है, व्रत नियमों का पालन कर मुक्ति प्राप्त करेगा। अत: इसे दी हुई शिक्षा व्यर्थ न जायेगी, रुचिकर लगेगा इसे उपेदश, वह जो सुधार की ओर अग्रसर होने वाला है'।

शृगाल मुड़ा, लौटने के लिए धीरे-धीरे, अशक्त-रोग की तरह। शायद निराशा का बोझ और विफल-मनोरथ होने की झुंझलाहट उसकी प्रगति में बाधक हो रही थी।...

होता आया है वह, जिसे करना विधाता तय कर चुका होता है। पर, प्राणी चाहता है-मैं सोचूँ वही हो । विधाता के काम में जबर्दस्ती-दखलन्दाजी नहीं चलती, तो दु:खी होता है। शृगाल की स्थिति भी यही थी। वह लौट रहा था मरे व्यक्ति को न पाकर, मरी-सी तबियत लेकर ! कि परोपकारी-साधु ने रोका।

वह रुक गया, खड़ा रह गया वहीं।

वह बोले-'अज्ञान-पशु ! आज भी तुझे चेत नहीं आता। कितना दयनीय-स्थिति में है तूने कभी विचारा है यह? सोचा है तूने? पापों ने कितना दीन बना रक्खा है तुझे? कितनी भीरुता, परतन्त्रता, और अज्ञानता सौंप रखी है। नहीं जानता उसे? सुनकर उत्तर देने तक की शक्ति नहीं है तेरी जुबान में, कितनी सोचनीय है यह बात?'

शृगाल एकटक खड़ा, सुनता रहा-सब। साधनापूर्वक-मनोयोगमय-चिकित्सक के शब्दों को, मृत्यु के नजदीक पहुँचे हुए रोगी की तरह।

महाराज बोलते गये-'पाप का ही यह परिणाम है कि आज इस दीन अवस्था में अपने को पा रहा है पशु जीवन में जन्म लेना पड़ा है तुझे । पाप, दु:ख का प्रणेता होता है। सुख कैसे दे सकता है।

वह ?....दु:ख और आश्चर्य के साथ मुझे कहना पड़ता है-वत्स ! कि फिर भी तू आज पाप से भयभीत नहीं हो रहा। मरे हुए का माँस खाने के लिए व्यग्र हो रहा है। जीव-हत्या, मांसाहार रात-दिन बगैर भेद के खाते-पीते रहना किसी में तुझे पाप की गन्ध नहीं आती ? किस तरह भला हो सकता है तेरा इस प्रकार ?

शृगाल की आत्मा में ज्ञान की ज्योति का प्रकाश फैलने लगा समझने लगा वह अपना भला-बुरा जितना समझने की ताकत थी भीतर। और पास आकर बैठ गया!

योगीश्वर ने जाना, शृगाल की रुचि है धर्माचरण की। वह बोले-अब भी समय है, कुछ गया नहीं है पाप के परिणाम को समभावों से भोगो। आगे पाप के रास्ते पर कदम न उतारो।

मैं जानता हूँ लम्बे-चौड़े व्रतों का निर्वाह तुझसे नहीं हो सकता। लेकिन रात्रि-भोजन त्याग व्रत आसानी से ग्रहण कर सकता है तू । यह व्रत सरल जरूर है, पर छोटा नहीं है। अपार सुख देने की शक्ति रखता है। सभी व्रतों का मूल है यह । आत्म-विकास की पहली सीढ़ी इसे कहा जा सकता है।'

शृगाल की हैवानियत कम होती जा रही हो जैसे! मुख पर विवाद की एक भी रेखा अवशिष्ट नहीं थी। सौम्य मुखाकृति ।

सुन रहा था-ठीक एक भक्त की तरह। नवदीक्षित शिष्य की भाँति-'नहीं बनता है तो करता आ रहा है, जब मुश्किल नहीं है। खाने-पीने को सारा दिन बाकी बचा रहता है, मुसीबत क्या पड़ती है ?'

शृगाल ने सुना और उसे जीवन में उतारा। दीन जो था वह मानव की तरह समर्थ-शीलता की कड़ी कहाँ थी उसके पास ? कहाँ थीं वे दलीलें, जिन्हें अपनी कमजोरियाँ छिपाने में पुरुषार्थी-मानव इस्तेमाल किया करता है।.....

विकास का रास्ता दिखलाने वाली रोशनी शृगाल के भीतर जाग चुकी थी। वह मन में तय कर चुका था कि नरक में गिरने पेश्तर[1] उसे कुछ पुण्य-संचय कर लेना है। और वह रात का खाना छोड़ देने से हो सकता है।

कितनी ही रातें व्रत-पालन पूर्वक बिताने के बाद शृगाल ने कुछ आगे बढ़ने का साहस किया। इस बार उसने मांसाहार छोड़ दिया। दु:ख से डर जो चुका था, और वह उसे मालूम हो गया था कि पाप से होता है-दुःख। और दु:ख-सुख से अपरिचित कौन रहा है ? रूखा-सूखा जो मिलता, खाता और उसी पर सन्तोष । खाने की अधिक लिप्सा नहीं थी न पहले-सी व्यग्रता और हाँ, न पहले -सा वह खुद ही रहा था । बहुत दुबला हो गया है-आज! विरागमय जीवन बिताने वाले स्थूल-कायी कब रहे हैं ?

गर्मी के दिन थे, दोपहर का वक्त। शृगाल को आज जो खाना नसीब हुआ, वह रोज से अधिक नीरस, सूखा। सिर्फ पेट भरना था उसे । स्वाद से कोई ताल्लुक नहीं था। अत: कुछ बुरा न लगा उसे। खा गया। खाने के बाद लगी प्यास और वह भी इस कदर कि हिसाब नहीं। दौड़ा पानी की तलाश में।

1. पहले

वह ?....दु:ख और आश्चर्य के साथ मुझे कहना पड़ता है–वत्स ! कि फिर भी तू आज पाप से भयभीत नहीं हो रहा। मरे हुए का माँस खाने के लिए व्यग्र हो रहा है। जीव–हत्या, मांसाहार रात–दिन बगैर भेद के खाते–पीते रहना किसी में तुझे पाप की गन्ध नहीं आती ? किस तरह भला हो सकता है तेरा इस प्रकार ?

शृगाल की आत्मा में ज्ञान की ज्योति का प्रकाश फैलने लगा समझने लगा वह अपना भला–बुरा जितना समझने की ताकत थी भीतर। और पास आकर बैठ गया !

योगीश्वर ने जाना, शृगाल की रुचि है धर्माचरण की। वह बोले–अब भी समय है, कुछ गया नहीं है पाप के परिणाम को समभावों से भोगो। आगे पाप के रास्ते पर कदम न उतारो।

मैं जानता हूँ लम्बे–चौड़े व्रतों का निर्वाह तुझसे नहीं हो सकता। लेकिन रात्रि–भोजन त्याग व्रत आसानी से ग्रहण कर सकता है तू । यह व्रत सरल जरूर है, पर छोटा नहीं है। अपार सुख देने की शक्ति रखता है। सभी व्रतों का मूल है यह । आत्म–विकास की पहली सीढ़ी इसे कहा जा सकता है।'

शृगाल की हैवानियत कम होती जा रही हो जैसे ! मुख पर विवाद की एक भी रेखा अवशिष्ट नहीं थी। सौम्य मुखाकृति ।

सुन रहा था–ठीक एक भक्त की तरह। नवदीक्षित शिष्य की भाँति–'नहीं बनता है तो करता आ रहा है, जब मुश्किल नहीं है। खाने–पीने को सारा दिन बाकी बचा रहता है, मुसीबत क्या पड़ती है ?'

शृगाल ने सुना और उसे जीवन में उतारा। दीन जो था वह मानव की तरह समर्थ–शीलता की कड़ी कहाँ थी उसके पास ? कहाँ थीं वे दलीलें, जिन्हें अपनी कमजोरियाँ छिपाने में पुरुषार्थी–मानव इस्तेमाल किया करता है।.....

विकास का रास्ता दिखलाने वाली रोशनी शृगाल के भीतर जाग चुकी थी। वह मन में तय कर चुका था कि नरक में गिरने पेश्तर[1] उसे कुछ पुण्य–संचय कर लेना है। और वह रात का खाना छोड़ देने से हो सकता है।

कितनी ही रातें व्रत–पालन पूर्वक बिताने के बाद शृगाल ने कुछ आगे बढ़ने का साहस किया। इस बार उसने मांसाहार छोड़ दिया। दु:ख से डर जो चुका था, और वह उसे मालूम हो गया था कि पाप से होता है–दुःख। और दु:ख–सुख से अपरिचित कौन रहा है ? रूखा–सूखा जो मिलता, खाता और उसी पर सन्तोष । खाने की अधिक लिप्सा नहीं थी न पहले–सी व्यग्रता और हाँ, न पहले –सा वह खुद ही रहा था । बहुत दुबला हो गया है–आज ! विरागमय जीवन बिताने वाले स्थूल–कायी कब रहे हैं ?

गर्मी के दिन थे, दोपहर का वक्त। शृगाल को आज जो खाना नसीब हुआ, वह रोज से अधिक नीरस, सूखा। सिर्फ पेट भरना था उसे । स्वाद से कोई ताल्लुक नहीं था। अत: कुछ बुरा न लगा उसे। खा गया। खाने के बाद लगी प्यास और वह भी इस कदर कि हिसाब नहीं। दौड़ा पानी की तलाश में।

1. पहले

सूरज अपनी उष्णता की परीक्षा दे रहा था–वसुन्धरा को । धरती जल रही थी मारे क्रोध के, न जाने किस पर ? आँधी धूल को आकाश में स्थान दिलाने के लिए संलग्न थी। दरख्त[1] सराहना कर रहे थे, उसकी, पत्तों को सन्मानार्थ बखेर कर ।...

प्यासा शृगाल छटपटाने लगा। पानी कहीं नहीं। बहुत घूमा फिरा जंगल–जंगल। शुष्क जलाशय। न जाने कितना प्यासा था सूरज, जो सबका जल पी गया– दुष्ट। एक बूँद भी दूसरों के लिए नहीं छोड़ी कहीं।

मृगमरीचिका! प्यास ने व्यथित कर दिया उसका मन। बैठ न सका वह।

फिर चला, तृषा शान्त करने के लिए –दौड़ता, हाँफता, गर्मी से बैचेन! बड़ी घबराहट थी इस वक्त उसे। जुबान सूख रही थी, आँखें निकली पड़ रही थीं, मारे प्यास के। लग रहा था न बचेंगे।' आज प्राण बहुत दूर निकल आया। लेकिन प्यास ने पीछ न छोड़ा था–प्यास! और प्यास!!

व्याकुल शृगाल बैठ गया–निराशा के बीच, निरुपाय सा । कि आशा को विनोद सूझा। शृगाल बैठा न रह सका उठ खड़ा हुआ फिर। पानी की खोज को!

सौभाग्य कि इस बार उसका प्रयत्न व्यर्थ न गया। एक वापी उसे नजर पड़ी। खिल उठा उसका मुरझाया मुँह जीवन जो छिपा बैठा था उसका पानी में।

1. वृक्ष

झाँककर देखा–'पानी तो है, पर, बहुत नीचा।

शृगाल को चिन्ता न हुई, नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ जो बनी हुई थीं–वापी में।

वह वगैर एक क्षण का विलम्ब किए हुए सीढ़ियाँ उतरने लगा। प्यास ने पैरों में गति जो भर दी थी– असाधारण । खुश होता जाता, सोचता जाता–'बच गये आज प्राण!' पर प्यास को क्षण–भर का विलम्ब भी असह्य हो रहा था–अब। पानी को देखकर उसने सब्र छोड़ दिया था–शायद।

लहराते पानी की टक्करों से मुकाबला करने वाली अन्तिम सीढ़ी पर खड़े होकर शृगाल ने एक नई उलझन में अपने को फंसा हुआ पाया।

सोचने लगा वह –'उफ्! कितना अन्धेरा है? रात हो गई–शायद! 'सन्देह मिटाने के लिए सिर ऊपर उठाया उसने देखा बहुत मामूली धुँधला, सीमित प्रकाश।'

निश्चय किया–अवश्य रात हो गई है। सूर्य का कहीं पता नहीं। अब मुझे पानी नहीं चाहिये। प्रतिज्ञा जो टूट जाएगी घोर पाप होगा।'

खड़ा रहा कुछ देर। प्यास ने भरपूर आक्रमण किया प्रतिज्ञा–पालन पर। पर शृगाल अचल, दृढ़।

प्यास ने क्रोधित होकर कहा–'मैं तेरे प्राण ले लूँगी–अभी।' उसने अभय होकर उत्तर दिया– 'मुझे भय नहीं है! एक बार मरना

तो है ही ! उसे कौन टाल सकता है ? फिर पाप को लेकर कुछ दिन जी भी लूँ, उस से फायदा क्या ?'

प्यास निरुत्तर। प्यास पर काबू पा लिया, उसने। और लौट चला–ऊपर। शान्तचित्त समभाव सहित। तनिक भी क्लेश, या खेद नहीं था मुँह पर। हो सकता है प्रतिज्ञा पालन की दृढ़ता ने प्यास का उत्पीड़न दबा दिया हो।

ऊपर आकर उसने देखा– 'दिन। धूप फैल रही है।, सूर्य चमक रहा है, लू चल रही है।'

प्यास फिर से उसे व्याकुल करने लगी। वह फिर नीचे उतरा वापी में। अन्धेरा !

'अरे, रात तो हो ही गई है। अभी देखा था, उतना ही अन्धेरा है, जरा भी कम नहीं। रात में पानी पीने को ललचा रहा हूँ–छि: !'

और तभी गुरु–वाणी उसके कानों में गूँज उठती है– 'सभी व्रतों का मूल है यह। अपार सुख देने की शक्ति रखता है।'

लौट चला फिर। प्यासे का प्यासा।

बाहर आया, फिर वही अचरज !... दिन ढलता हुआ दिन। तपता हुआ तीसरा पहर।

'बात क्या है ?'

पशु की सीमित बुद्धि में भ्रम की चट्टान ने बाँध–सा लगा दिया। ठीक–ठीक न जान सका यह रहस्य कि–दिन है या रात ?

सूर्य की ओर आँखें खोलकर फिर उसने देखा, और निश्चय किया–'रात हरगिज नहीं है। दिन है इस वक्त।' और पीने की

उत्कट–लालसा लेकर फिर वह नीचे उतरा। रात ! शृगाल चकित। पानी उसके पैरों में लोट रहा है। जैसे तरस खाकर अनुनय कर रहा है–'पीलो मुझे, प्राण न गँवाओ, बेकार।'

शृगाल ने सोचा खाने–पीने को दिन बहुत होता है। रात में पानी नहीं पीना मुझे। गुरु ने सुख का रास्ता जो इसी को बताया है।

ऊपर आया, फिर नीचे गया। कभी निश्चय किया–'दिन !' और एक बार, दो बार नहीं, अनेकों बार। जब तक कि शरीर कभी तय किया–'रात !'

और एक बार, दो बार नहीं, अनेकों बार। जब तक कि शरीर में में चढ़ने उतरने की ताकत मौजूद रही।

आखिर प्यास ने, थकावट ने, शरीर की निर्बलता ने उसे इस लायक न रहने दिया कि वह फिर एक बार ऊपर जाकर देख सके भ्रम निवारण कर सके कि दिन है या रात ? ऊपर अगर दिन है, तो जहाँ उसे पानी पीना है, वहाँ रात क्यों है ?.....

वह अशक्त हो लुढ़क रहा उसी अन्तिम सीढ़ी पर। जिसे लहरें थपकियाँ दे–देकर सुलाया करती हैं–हर समय !

प्यास को भूल चुका है शृगाल। नजर के पास हिलोरें लेते हुए पानी की ओर उसका चित्त नहीं। वह सोच रहा है–'रात खाना– पीना पाप है।'

चित्त में तनिक भी व्याकुलता नहीं है। प्यास की वेदना स्वयं शान्त हो रही है। जरा भी उत्पीड़न नहीं। शृगाल का चित्त गुरुवाणी में, दृष्टि जो गुरु–चरणों में लग रही है।

अन्तिम साँसों को ले रहा है वह।

पानी लहरा-लहरा कर कह रहा है-'पी लो।'

उसकी दृढ़ता उत्तर दे रही है-'रात में एक बूँद भी नहीं। सुबह..... ।'

शृगाल ने मरकर, मगध देश के सुप्रतिष्ठपुर शहर में धन कुबेर धनमित्र के घर जन्म लिया। नाम-प्रीतिंकर। राज्यऋद्धि धारी, उसी शरीर से मुक्ति जाने वाले। ...वंदनीय। पाप शून्य। अपार सुखमय।

वासनाओं में अन्धा पुरुष हो
या स्त्री, अपने लौकिक पदस्थ,
कुल की मान मर्यादा
एवं
पारिवारिक, प्यार को लात मारकर
घृणित अपावन एवं निंद्य
कार्य का अवलम्बन लेने में
भी नहीं हिचकता।

11. क्षमा के पथ पर

सूर्यास्त में अभी देर थी-दो घण्टे की। लेकिन महाराज को ऐसा लगा, जैसे यह दो घण्टे नहीं, दो हजार वर्ष हैं। जो खत्म होने

आज दरबार करते-करते सहसा महाराज को अपनी प्राणेश्वरी की याद उठ आई। जिसे वह एक मुद्दत से भुलाये बैठे थे। जब तक उसकी याद न थी, कोई बात नहीं थी। लेकिन अब प्रतीक्षा की घड़ियाँ काटे नहीं कटतीं ।

वह सोचने लगते हैं-'उफ्:, कितना कठोर व्यवहार है, कैसा घोर अन्याय है-मेरा ? वह कोमलांगी क्या मेरी वियोग ज्वाला में न जल रही होगी ? मैं भूल गया । ओफ !.... आज उसी के महल में जाना होगा !... अन्याय के प्रायश्चित्त रूप क्षमा माँगना भी मेरा कर्त्तव्य होना चाहिए। एक पतिव्रता नारी के लिए पतिविरह से अधिक दु:ख नहीं।'

.....आखिर 'नियत' के अटल-बन्धन ने बलात् रात्रि को खींच ही लिया। महाराज ने देखा तो खुशी के मारे गद्‌गद् हो गये।

चल दिए अन्त:पुर की ओर।

सातवीं मंजिल पर महारानी ने सुना-'महाराज आज उस ही के यहाँ आ रहे हैं।' सच-मुच खुशी की बात थी। मुद्दत पीछे आज यह घड़ी आई थी। यह शुभागमन उसके लिए जहाँ आनन्द- प्रद था, वहाँ गौरवदायी भी। वह स्वागतार्थ उद्‌धृत हुई। प्रतीक्षा का ताण्डव प्रारम्भ हुआ। दृष्टि आगत-पथ पर बिछ गई।

और इधर, महाराज का उमंग भरा हृदय एक-एक क्षण व्यतीत करने में असमर्थ। मखमल सोपान-पर-सोपान लाँघने के बाद-पहली मंजिल आई। अनेक सुन्दरियाँ चुहल[1] कर रहीं थीं।

1. हलका हँसी-मजाक, हँसी ठिठोली

महक से प्रासाद पूर्ण था। महाराज की एक नजर उधर गई और फिर लौट आई। उनका लक्ष्य, उनका ध्येय जो दूसरा था। लेकिन इस क्षणिक-दृष्टि ने भी उन्हें सरसता की ओर ही ढकेला।

वह आगे बढ़े।

दूसरी, तीसरी, चौथी फिर पाँचवीं मंजिल आई। वह रुकते, बैठते, विश्राम लेते हुए, पुनः चले। अन्तरंग मित्र (प्राईवेट सेवक) भी यहाँ छोड़ दिए गये। सिर्फ एक बाँदी साथ रही।.....

स्वर्ग का उपहास करने वाला वह भव्य-भवन रत्न-दीपकों से जगमगा रहा था। पुष्प-पल्लवों से प्रगट होने वाली मादक सुरभि वायु को आनन्दप्रद बना रही थी। अवर्णनीय सुषमा अतुलनीय शोभा का साम्राज्य था वहाँ।

यह सातवीं मंजिल थी।

सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा, फूल-सी कोमल, चाँद-सी कमनीय और सुर-धुन-सी आकर्षक साम्राज्ञी आगे आई। सिर नवाकर अभिवादन किया।

महाराज मुस्कराये। नाजुक कलाई को हाथ में थाम, पलंग पर जा बैठे। मन में प्रेम के ज्वार-भाटे जो उठ रहे थे एक दूसरे को प्रेम, उमंग, आनन्द-भरी दृष्टि से देख रहे थे। जैसे हृदय में उतारने की चेष्टा में संलग्न हों। प्रेम-गीत गाये जाने लगे।

कुसुम शैय्या जैसे हर्ष- प्लावित हो सुगन्धदान कर रही थी। दासी ने कुछ और ताजे फूल लाकर रखे। और बाहर चली गई.....

महाराज ने एक फूल उठाया, और साधकर महारानी के अरुणाभ, कोमल कपोल पर मारा, कि महारानी चिहुँक कर उछल पड़ीं। जैसे पीड़ा ने उन्हें स्थिर न रहने दिया।

महाराज घबड़ाये।

यह पर-पीड़ाकारी विनोद कैसा? कोमलांगी फूल के कठोर आघात को सह सकती थी-क्या?

पूछा-क्या लग गई?'

'नहीं।'- गुलाबी, कोमल हथेलियों से कपोल को सहलाते व्यंग्य की हँसी-हँसने का उपक्रम करते हुए, महारानी ने उत्तर दिया।

महाराज कुछ लज्जित हुये।

-और तभी दोनों पुष्प शैय्या पर वासना-आँधी में उड़ने के लिये लेट रहे।

कुछ दिन पहले की बात-

एक दिन, जबकि द्विजराज अपनी सुधवल रश्मि-राशि द्वारा, धरा के वक्ष-स्थल का स्पर्श कर मन-ही-मन प्रमोद की हँसी हँस रहे थे। पृथ्वी उनके कोमल दुलार का मधुर और सुखद स्पर्श प्राप्त कर अलसाये नेत्रों से निद्रा की शान्ति का आनन्दोपभोग करने में तन्मय थी। और तभी, महारानी सुमन सेज पर लेटीं। पति-विरह की दुःखद-समस्या ने उन्हें थोड़ा विचार संलग्न बना दिया था। एक मात्र अंतरंग बाँदी-कुन्दलता समीप खड़ी पंखा झाल रही थी जिससे सुरभि हो रही थी, वातावरण शान्त था, निद्रा की आराधना का वक्त जो था।

महक से प्रासाद पूर्ण था। महाराज की एक नजर उधर गई और फिर लौट आई। उनका लक्ष्य, उनका ध्येय जो दूसरा था। लेकिन इस क्षणिक-दृष्टि ने भी उन्हें सरसता की ओर ही ढकेला।

वह आगे बढ़े।

दूसरी, तीसरी, चौथी फिर पाँचवीं मंजिल आई। वह रुकते, बैठते, विश्राम लेते हुए, पुनः चले। अन्तरंग मित्र (प्राईवेट सेवक) भी यहाँ छोड़ दिए गये। सिर्फ एक बाँदी साथ रही।.....

स्वर्ग का उपहास करने वाला वह भव्य-भवन रत्न-दीपकों से जगमगा रहा था। पुष्प-पल्लवों से प्रगट होने वाली मादक सुरभि वायु को आनन्दप्रद बना रही थी। अवर्णनीय सुषमा अतुलनीय शोभा का साम्राज्य था वहाँ।

यह सातवीं मंजिल थी।

सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा, फूल-सी कोमल, चाँद-सी कमनीय और सुर-धुन-सी आकर्षक साम्राज्ञी आगे आई। सिर नवाकर अभिवादन किया।

महाराज मुस्कराये। नाजुक कलाई को हाथ में थाम, पलंग पर जा बैठे। मन में प्रेम के ज्वार-भाटे जो उठ रहे थे एक दूसरे को प्रेम, उमंग, आनन्द-भरी दृष्टि से देख रहे थे। जैसे हृदय में उतारने की चेष्टा में संलग्न हों। प्रेम-गीत गाये जाने लगे।

कुसुम शैय्या जैसे हर्ष- प्लावित हो सुगन्धदान कर रही थी। दासी ने कुछ और ताजे फूल लाकर रखे। और बाहर चली गई.....

महाराज ने एक फूल उठाया, और साधकर महारानी के अरुणाभ, कोमल कपोल पर मारा, कि महारानी चिहुँक कर उछल पड़ीं। जैसे पीड़ा ने उन्हें स्थिर न रहने दिया।

महाराज घबड़ाये।

यह पर-पीड़ाकारी विनोद कैसा? कोमलांगी फूल के कठोर आघात को सह सकती थी-क्या?

पूछा-क्या लग गई?'

'नहीं।'- गुलाबी, कोमल हथेलियों से कपोल को सहलाते व्यंग्य की हँसी-हँसने का उपक्रम करते हुए, महारानी ने उत्तर दिया।

महाराज कुछ लज्जित हुये।

-और तभी दोनों पुष्प शैय्या पर वासना-आँधी में उड़ने के लिये लेट रहे।

कुछ दिन पहले की बात-

एक दिन, जबकि द्विजराज अपनी सुधबल रश्मि-राशि द्वारा, धरा के वक्ष-स्थल का स्पर्श कर मन-ही-मन प्रमोद की हँसी हँस रहे थे। पृथ्वी उनके कोमल दुलार का मधुर और सुखद स्पर्श प्राप्त कर अलसाये नेत्रों से निद्रा की शान्ति का आनन्दोपभोग करने में तन्मय थी। और तभी, महारानी सुमन सेज पर लेटीं। पति-विरह की दुःखद-समस्या ने उन्हें थोड़ा विचार संलग्न बना दिया था। एक मात्र अंतरंग बाँदी-कुन्दलता समीप खड़ी पंखा झाल रही थी। जिससे सुरभि हो रही थी, वातावरण शान्त था, निद्रा की आराधना का वक्त जो था।

ऐश्वर्य की गोद में भी सुख नहीं। एक रानी का जीवन भी नीरस होने से नहीं बच पाता। इसलिए कि अनेक रानियों का पति एक होता है एक, तो-इसके अतिरिक्त, सभी को पति-विरह की वह्नि[1] में दहकना पड़ता है। जब कि स्त्री का सुख, सौन्दर्य, समृद्धि सब-कुछ पति है। वह गरीब स्त्री सुखी है, सौभाग्य-शाली है- जो अपने पति को नित्य आँखों से देखती है, हाथों से स्पर्श करती है, और... ?

'अर्ध-रात्रि की इस नीरवता में कौन गा रहा है? कितना अच्छा राग है.... ? कैसा है स्वर संगीत ? -ओह! '-महारानी ने अपने विचारों से मुक्ति पाई चित्त उसका जब मधुर स्वर लहर की ओर आकृष्ट होने लगा था। चुप, दम-साध कर सुनने लगी वह। जैसे इस स्वर को अपने भीतर उतार रही हो।

पंचम स्वर में गाया हुआ, वह मोहक-राग समाप्त हुआ। रानी को होश आया । किन्तु... यह कैसा नशा-सा चढ़ा जा रहा है ? नींद तो आ नहीं रही, फिर आँखें क्यों मुंदी जा रही हैं ? शरीर रोमांचित हो रहा है, स्पन्दन-गति बढ़ रही है। साँस में सुधाकर की-सी शीतलता क्यों भर रही है ? देह गर्म क्यों हो उठी है ? क्या सुधाकर की शरद्-किरण, रवि-रश्मियों में परिवर्तित होने जा रही है ?

लेकिन इस सब की वजह ?-

महारानी शीघ्र ही अपनी दशा से अवगत हो गई। पंचशर[2] का उन पर वार हुआ है। और ऐसा कि जिसकी अवहेलना करना

1. अग्नि 2. कामदेव

कि जिसका ठुकराना उनकी शक्ति के बाहर है। वह कुछ देर यों ही करवट बदलती रहीं। बोली कुछ नहीं लेकिन हृदय का क्षोभित महासागर क्या स्थिर रहने दे सकता था ? आखिर उन्हें अपना मौन तोड़ना पड़ा-बोलना पढ़ा।

उठकर बैठ गई।

कुन्दलता ने पूछा-'क्यों ?'

महारानी हँसी।

हँसी में उन्माद था, अराजकता थी, गम्भीरता नाम मात्र को भी नहीं।

दासी को जैसे अभय मिला। पूछा-'नींद नहीं आ रही-क्या ? -उठने की तकलीफ हो रही-कुन्दलता। तेरे सिवा अब और किससे कहूँ-उसे ? तू जो मेरी सखी है, सहेली है, आठो पहर की साथिन।'

और रानी कुछ रुकी।

'कहो, कहो छिपाने की कौन बात मुझ से भी पर्दा, मुझ से छिपाओगी ?'

रानी तो छिपाने में असमर्थ थी ही। सबकुछ कह डाला, रत्ती- रत्ती सब कुछ शेष रहा ही क्या ? वह जो पद-मर्यादा, लोक-लाज, स्त्रीत्व को ठोकर मार चुकी।

बाँदी ने वह सुना, जिसकी उसे आशा नहीं थी, जरा भी नहीं। सुनकर चकित रह गई।.....

घबड़ाये कण्ठ से बोली- 'मगर..... स्वामिनी..'

'चुप रहो कुन्दलता। मुझे उससे अब मिलाने में ही हित है। जीवन जो मेरा अब इसी पर निर्भर है। दूसरी बातें सुनना मुझे बर्दास्त नहीं-'

कुन्दलता बड़े संकट में पड़ी। डरते-डरते उसके मुँह से निकला-

'तो..... .?'

'तो!' ....."वो!' कुछ नहीं। चलो मैं साथ चलती हूँ- और रानी ने पैर पलंग से नीचे उतारा।

'ठहरो! कहा मानो, पहले मुझे जाने दो! देखूँ कौन है वह- गायक।'

रानी कुछ सोचने लगीं।

फिर पैर को पलंग पर चढ़ाते हुए, क्षीणकण्ठ से बोली- 'अच्छा!... मगर देखो- जल्दी लौटना। मैं प्रतीक्षा में हूँ.... ।' जो आज्ञा! - और कुन्दलता फौरन कमरे के बाहर हो गई।

सुधाकर की धवल किरणों में जरा भी मलिनता नहीं आई थी।..... वहीं चाँद-सी चन्द्रिका चमक रही थी।

वह था कुबड़ा फीलवान[1]। राजप्रसाद के नीचे की फीलशाला[2] में पड़ा रहता। राज परिवार के टुकड़ों के सहारे। था बेचारा बड़ा पापी जीव। शरीर से कुरूप तो था ही। मुश्किल यह और कैसी थी कि विकृति ने भी उसका पीछा न छोड़ा था। -आँख

1. महावत 2. गजशाला

थी एक, वह भी क्षीण ज्योति, आँसुओं से पूर्ण और सुर्ख। दांतों में वह शायद किसी भी राक्षस से प्रतियोगिता होने पर विजयी हो सकता था। त्वचा श्याम, रूक्ष और खुरदरी थी। पैरों पर अपाहिजता ने दखल जमा रखा था।

मैले-कुचैले, भद्दे, बदबूदार चीथड़े थे उसके अंगरक्षक। अगणित मक्खियाँ प्रसन्न करने के लिए शायद उसे संगीत सुनाया करतीं।.....हाँ, तो ऐसा था वह घृणास्पद-फीलवान! कुन्दलता ने देखा-जमीन पर पड़ा मौज से गा रहा है-अपनी धुन में मस्त। चाँदनी उसके ऊपर पड़ी, उसकी दुरावस्था को प्रगट कर रही। रह-रह कर वह आँख और नाक को पौंछता जाता है।

हिस, कितना घृणित?

वह उन्हीं पैरों लौट आई। देखो तो महारानी प्रतीक्षा का दु:खद-घड़ियाँ कठिनता-पूर्वक बिता रही है। सब माजरा बयान किया, इस आशा से कि सुनते ही महारानी मुँह फेर जायेंगी, इच्छा पर प्रतिबन्ध लगायेंगी।

लेकिन..... !

'वह कैसा ही सही। मगर अब मेरा है- वह। मैं उसे प्यार करती हूँ-कुन्दलता। मैं उसे भूल नहीं सकती-अब। तुम चलो, मुझे उनके पास पहुँचा दो। हाँ, अभी इसी वक्त।'

यह प्रार्थना या गिड़गिड़ाहट नहीं थी। .... था महारानी का हुक्म। ...अटलनीय हुक्म टल भी सकता था-क्या? अविलम्ब श्याम-वस्त्र पहिने गये और दोनों चल दीं।...

घबड़ाये कण्ठ से बोली- 'मगर..... स्वामिनी..'

'चुप रहो कुन्दलता। मुझे उससे अब मिलाने में ही हित है। जीवन जो मेरा अब इसी पर निर्भर है। दूसरी बातें सुनना मुझे बर्दास्त नहीं-'

कुन्दलता बड़े संकट में पड़ी। डरते-डरते उसके मुँह से निकला-

'तो..... ?'

'तो!' ....."वो!' कुछ नहीं। चलो मैं साथ चलती हूँ- और रानी ने पैर पलंग से नीचे उतारा।

'ठहरो! कहा मानो, पहले मुझे जाने दो! देखूँ कौन है वह-गायक।'

रानी कुछ सोचने लगीं।

फिर पैर को पलंग पर चढ़ाते हुए, क्षीणकण्ठ से बोली- 'अच्छा!... मगर देखो- जल्दी लौटना। मैं प्रतीक्षा में हूँ.... ।' जो आज्ञा! - और कुन्दलता फौरन कमरे के बाहर हो गई।

सुधाकर की धवल किरणों में जरा भी मलिनता नहीं आई थी।..... वहीं चाँद-सी चन्द्रिका चमक रही थी।

वह था कुबड़ा फीलवान[1]। राजप्रसाद के नीचे की फीलशाला[2] में पड़ा रहता। राज परिवार के टुकड़ों के सहारे। था बेचारा बड़ा पापी जीव। शरीर से कुरूप तो था ही। मुश्किल यह और कैसी थी कि विकृति ने भी उसका पीछा न छोड़ा था। -आँख

1. महावत 2. गजशाला

थी एक, वह भी क्षीण ज्योति, आँसुओं से पूर्ण और सुर्ख। दांतों में वह शायद किसी भी राक्षस से प्रतियोगिता होने पर विजयी हो सकता था। त्वचा श्याम, रूक्ष और खुरदरी थी। पैरों पर अपाहिजता ने दखल जमा रखा था।

मैले-कुचैले, भद्दे, बदबूदार चीथड़े थे उसके अंगरक्षक। अगणित मक्खियाँ प्रसन्न करने के लिए शायद उसे संगीत सुनाया करतीं।.....हाँ, तो ऐसा था वह घृणास्पद-फीलवान! कुन्दलता ने देखा-जमीन पर पड़ा मौज से गा रहा है-अपनी धुन में मस्त। चाँदनी उसके ऊपर पड़ी, उसकी दुरावस्था को प्रगट कर रही ।रह-रह कर वह आँख और नाक को पोंछता जाता है।

हिस, कितना घृणित ?

वह उन्हीं पैरों लौट आई। देखो तो महारानी प्रतीक्षा का दु:खद-घड़ियाँ कठिनता-पूर्वक बिता रही है। सब माजरा बयान किया, इस आशा से कि सुनते ही महारानी मुँह फेर जायेंगी, इच्छा पर प्रतिबन्ध लगायेंगी।

लेकिन..... !

'वह कैसा ही सही। मगर अब मेरा है- वह। मैं उसे प्यार करती हूँ-कुन्दलता। मैं उसे भूल नहीं सकती-अब। तुम चलो, मुझे उनके पास पहुँचा दो। हाँ, अभी इसी वक्त।'

यह प्रार्थना या गिड़गिड़ाहट नहीं थी। .... था महारानी का हुक्म। ...अटलनीय हुक्म टल भी सकता था-क्या ? अविलम्ब श्याम-वस्त्र पहिने गये और दोनों चल दीं।...

कुबड़े-फीलवान को ऐसा लगा, जैसे वह मर गया है- उसकी आत्मा स्वर्ग में, देवांगनाओं के बीच सुखाभिलाष में तैर रही है।

महारानी का हृदय-भाव जब उसने जाना तो वह दंग रह गया। यह क्या ?-कहाँ वह ? -कहाँ मैं ? -और महाराज ने सुन पाया तो ?

उसे पूर्ण अभय दिया गया।

वह भी अब अपने पौरुष को पहिचानने लगा। उसे अपनी मनुष्यता का चेत जो हो आया था! और फिर-पाप का ताण्डव। नित्य के कार्यक्रम का एक अंग बन गया-यही सब।

महारानी के दिन सुख में बीत रहे थे।

(2)

देर तक प्रिया से प्रेमालाप करते रहने के बाद- महाराज सोने की चेष्टा में लगे। रानी समीप पड़ी थी। लेकिन नींद जैसे आज उनसे रूठी हुई थी। वे आँखें मूँदे पड़े रहे। कुछ वक्त और गुजरा।

महारानी ने करवट बदली। महाराज अचल। देखा उसने- आँखें बन्द हैं, शायद सो गए। फिर भी, एहतियातन[1] थोड़ी देर और पड़ी रही। आशंका जो थी-मन में। कि जागते न हो कहीं ?

पूर्ण निश्चय होने पर वह उठी काले वस्त्रों से अपने को ढका और बाँदी को साथ ले भवन से बाहर चली। विलम्ब जो दम घोंटे दे रहा था।

1. बचाव की दृष्टि से, सावधानी से

निद्रा की आराधना में तल्लीन महाराज का शून्य-हृदय आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा और क्षोभ से एक साथ भर गया। वह स्थिर पड़े न रह सके। उठे। श्याम-वस्त्र से अपने को छिपा, हाथ में विद्युत् सी चमकती तलवार ले, अपने ही महल में चोरों की तरह यह देखने के लिये चले कि आखिर यह जाती कहाँ है-इतने वक्त ?

'हँय ! यह कुबड़ा, मेरी प्रिया का प्रेमी ?... धिक्!'

महाराज अलग खड़े देखने लगे! और जो देखा, वह कितना अवांछनीय, कितना वीभत्स था, इसकी महाराज के मन में कल्पना तक नहीं थी। वे ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहे थे कि बात क्या है? देखा-वह कुबड़ा, फूल की चोट से हतप्रद होने वाली कोमलांगी महारानी को अपने विकृत-पदों द्वारा ठुकरा रहा है। मार रहा है। और हाथों से चोटी पकड़कर जैसे अपनी शक्ति सामर्थ की परीक्षा ले रहा है।

'उफ्, कितनी मार!' महाराज ने मन-ही-मन कहा और जरा समीप बढ़ आड़ में खड़े हो सुनने लगे-

'दूर हट। मैं तुझ-सी कमीनी-औरत से बात नहीं करना चाहता। वेश्या कहीं की...। बतला तो, आज इतनी देर से क्यों आई ? बदचलन...। दगाबाज! तू अपने मर्द की नहीं हुई तब मेरी क्या होगी ? जरूर तू किसी दासी से पैदा है, नहीं...।'

'नाराज न होओ मेरे प्यारे। मेरी भी सुनो-आज महाराज मेरे ही महल में पधारे थे। इसीलिये कुछ देर हो गई है-नहीं मैं कब-कब देर करके आई हूँ ? -मुझे माफ कर दो। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ ?'

कुबड़े-फीलवान को ऐसा लगा, जैसे वह मर गया है- उसकी आत्मा स्वर्ग में, देवांगनाओं के बीच सुखाभिलाष में तैर रही है।

महारानी का हृदय-भाव जब उसने जाना तो वह दंग रह गया। यह क्या ?-कहाँ वह ? -कहाँ मैं ? -और महाराज ने सुन पाया तो ?

उसे पूर्ण अभय दिया गया।

वह भी अब अपने पौरुष को पहिचानने लगा। उसे अपनी मनुष्यता का चेत जो हो आया था! और फिर-पाप का ताण्डव। नित्य के कार्यक्रम का एक अंग बन गया-यही सब।

महारानी के दिन सुख में बीत रहे थे।

(2)

देर तक प्रिया से प्रेमालाप करते रहने के बाद- महाराज सोने की चेष्टा में लगे। रानी समीप पड़ी थी। लेकिन नींद जैसे आज उनसे रूठी हुई थी। वे आँखें मूँदे पड़े रहे। कुछ वक्त और गुजरा।

महारानी ने करवट बदली। महाराज अचल। देखा उसने- आँखें बन्द हैं, शायद सो गए। फिर भी, एहतियातन[1] थोड़ी देर और पड़ी रही। आशंका जो थी-मन में। कि जागते न हो कहीं ?

पूर्ण निश्चय होने पर वह उठी काले वस्त्रों से अपने को ढका और बाँदी को साथ ले भवन से बाहर चली। विलम्ब जो दम घोंटे दे रहा था।

1. बचाव की दृष्टि से, सावधानी से

निद्रा की आराधना में तल्लीन महाराज का शून्य-हृदय आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा और क्षोभ से एक साथ भर गया। वह स्थिर पड़े न रह सके। उठे। श्याम-वस्त्र से अपने को छिपा, हाथ में विद्युत् सी चमकती तलवार ले, अपने ही महल में चोरों की तरह यह देखने के लिये चले कि आखिर यह जाती कहाँ है-इतने वक्त ?

'हूँय ! यह कुबड़ा, मेरी प्रिया का प्रेमी ?... धिक्!'

महाराज अलग खड़े देखने लगे! और जो देखा, वह कितना अवांछनीय, कितना वीभत्स था, इसकी महाराज के मन में कल्पना तक नहीं थी। वे ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहे थे कि बात क्या है? देखा-वह कुबड़ा, फूल की चोट से हतप्रद होने वाली कोमलांगी महारानी को अपने विकृत-पदों द्वारा ठुकरा रहा है। मार रहा है। और हाथों से चोटी पकड़कर जैसे अपनी शक्ति सामर्थ की परीक्षा ले रहा है।

'उफ्, कितनी मार!' महाराज ने मन-ही-मन कहा और जरा समीप बढ़ आड़ में खड़े हो सुनने लगे-

'दूर हट। मैं तुझ-सी कमीनी-औरत से बात नहीं करना चाहता। वेश्या कहीं की...। बतला तो, आज इतनी देर से क्यों आई ? बदचलन...। दगाबाज! तू अपने मर्द की नहीं हुई तब मेरी क्या होगी ? जरूर तू किसी दासी से पैदा है, नहीं...।'

'नाराज न होओ मेरे प्यारे। मेरी भी सुनो-आज महाराज मेरे ही महल में पधारे थे। इसीलिये कुछ देर हो गई है-नहीं मैं कब-कब देर करके आई हूँ ? -मुझे माफ कर दो। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ ?'

महाराज अधिक न देख सुन सके। क्रोध के मारे बेहाल जो हो रहे थे। तलवार को सतर्क हो, मजबूती से पकड़ आगे बढ़े वह। समीप ही था वह क्षण कि महारानी का सिर रक्त-रंजित हो जमीन पर पड़ा दिखाई देता।

पर..... ।

महाराज के वीर-हृदय में ज्ञान की प्रखर-ज्योति जगमगा उठी! क्रोध की निस्सार लपटें, शान्ति सौम्यता के सन्मुख झुक गईं! वे सोचने लगे-'धिक्कार है संसार के मायाजाल को, जहाँ अविश्वास ही अविश्वास। धोखा ही धोखा है!! कोई किसी पर विश्वास नहीं कर सकता!!! उद्दण्ड बैरियों का मान-मर्दन करने वाली तलवार से क्या मैं महारानी को सीधे रास्ते पर ला सकता हूँ? फिर नारी हत्या का पाप क्यों लूँ? क्यों एक अबला के खून से हाथ रंगूँ? -छिः।' और वह लौट आये उस अनाचार को देखते रहने की शक्ति उनमें अब बाकी नहीं थी। हृदय आभा भी ज्योति से चमक जो रहा था।

(3)

दूसरे दिन!

महाराज निर्जन-वन में पद्मासन रखे हुए, ध्यान-मग्न थे। परम-तपस्वी...। शान्त चित्त। मुक्ति के उपासक!!!

''भोग बुरे भव रोग बढ़ावें,
बैरी हैं जग जीके।
बे-रस होंय, विपाक-समय अति,
सेवत लागें नीके।''

12. करनी का फल

पाप बुरा है। नहीं करना चाहिए, इसलिए कि उससे दुःख मिलता है। पर, हम करते हैं। और तुर्रा[1] यह है कि बेहिचक अब सवाल उठता है, कि दुःख पाते हुए भी हम उसे करते क्यों हैं? भयभीत क्यों नहीं होते उससे? ...हाँ! दुःख से घबराते हैं भयभीत होते हैं। लेकिन मूल चीज तो यह नहीं है न? यह दूसरी बात है।

और इस सबका उत्तर सम्भवतः यही हो सकता है, कि हमको नतीजा-पाप का-हाथों हाथ नहीं मिलता! और यों हम परिणाम की ओर से बेफिक्र रहते हैं, पाप करते चले जाते हैं-निडर होकर यानी पाप आज करते हैं, दुःख बाद को मिलता है। तब तक पाप की बात को भूल जाते हैं दुःख को लेकर रोते, चीखते-चिल्लाते हैं! जैसे अकारण ही किसी ने लाद दिया हो! और बाद की आगे की-बात पर विश्वास भी कितनों को है? 'हाल तो मौज में गुजर जानी चाहिए, आगे की आगे देखी जायेगी।' -अधिकांश जगत् इसी सिद्धान्त को मानने वाला है और विश्वास कीजिए-इसमें वे आस्तिक भी शामिल हैं जो पुनर्जन्म के अस्तित्व से ना - मुकर[2] नहीं है।

1. अनोखा, विलक्षण 2. अस्वीकार

फिर भी पाप बुरा है–इस ध्रुव–सत्य में अन्तर नहीं पड़ता। फिर परिणाम चाहे आज भोगना पड़े, चाहे कल। भोगना तो पड़ता ही है न ? और तब यह मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरती, कि दु:ख के कारण की ओर से आँख मींच कर, दु:ख की कठोरता के लिए रोया–चिल्लाया जाय ! परिणाम के लिए यह नहीं कहा जा सकता, कि कब सामने आये ! नियम की पाबन्दी उस पर लागू नहीं है । एक अर्से के लिए टलना नामुमकिन नहीं है, उसी तरह हाथों-हाथ भी नतीजा नजर के आगे आ खड़ा हो सकता है !....

अयोध्या के महाराज 'सुरत' बुरे आदमी नहीं ! बुरे होते हैं वे, जो सत्ता के मद में अन्याय पर उतर आते हैं और यह बुराई उनमें नहीं थी– जरा भी नहीं !

हाँ, एक अवांछनीय वृत्ति उनमें जरूर थी। और वह यह कि वे इस वासना–पूर्ण सिद्धान्त पर यकीन करने लगे थे कि राज्य-वैभव पाने का मकसद यह है, कि जी–भर कर विषय भोगों का स्वाद चखा जाय।

अपने जीवन को इसी साँचे में ढाल भी लिया था उन्होंने। रात–दिन अन्त:पुर में पड़े रहते। राज–काज का सारा बोझ योग्य मन्त्रियों के कन्धों पर था। जो उचित उत्तमता के साथ वहन कर रहे थे। महाराज की अनुपस्थिति किसी को अखर नहीं रही थी। यों, गाहे व गाहे महाराज के चरण भी दरबार में आते हों !....

पाँच–सौ देवियों–जैसी रमणियों के सौन्दर्य में डूबे रहने पर भी महाराज सुरत के अन्त:करण की ज्योति बिल्कुल बुझी नहीं थी,

कुछ प्रकाश शेष था। जहाँ विलासिता को सामने रख कर जीवन पथ पर तय करना उन्होंने विचारा, वहाँ मानवोचित कर्त्तव्य को भूलने की भी गलती उन्होंने नहीं की।

अवश्य ही वह अपनी प्यारी प्रजा के समय को राग–रंग में व्यतीत करते हैं। वह राजसी प्रतिभा, शक्ति और ओज, जिसे जन-हित के कार्यों में लगना चाहिए था नहीं लग रहा। लेकिन वह इन चीजों का दुरुपयोग भी नहीं करते। वरन् जब समय मिलता है। विवेक की बारी आती है, कामाग्नि–ठण्डी पड़ती है तो विचारते हैं– 'मैं मनुष्य हूँ ! मुझे मानव जीवन से लाभ लेना ही चाहिए !... मैं राजा हूँ, मुझे प्रजा के सुख–दु:ख में हाथ बँटाना चाहिए, उनकी परवरिश करनी चाहिए।'

और वे दोनों ओर से बेफिक्र नहीं हैं। उनकी घोषणा है– 'अगर साधु–महात्मा इधर आवें, तो मुझे फौरन सूचित किया जाय। अगर प्रजा की कोई खास बात हो, और उसका सम्बन्ध मुझसे हो, तो उस सम्बाद को भी न रोका जाय। शेष कार्यों के लिए मेरे पास आने की कोई आवश्यकता नहीं।'

अन्त:पुर–वासी महाराज सुरत की आज्ञाओं का सतर्कता पूर्वक पालन हो रहा है। राज्य–व्यवस्था चल रही है – न्याय के पथ पर ! और महाराज सुरत प्रधान महिषी–महारानी सती के कमलानन[1] के भ्रमर बने हुए मधुपान करते नहीं अघा रहे।

तृप्ति का सबब भी तो हो ? वासना से 'तृप्ति' का नाता ही कब रहा ? फिर हम–तुम साधन–समृद्धिहीन जब एक स्त्री के सद्भाव पर

1. कमल रूपी मुख

दुनिया को भूले जा रहे हैं, तो महाराज सुरत की तो बात क्या? स्वयं-राजा! दस-बीस-पचास नहीं, पूरी पाँच सौ रानियाँ! और वह भी ऐसी-वैसी नहीं, कोई अप्सरा-सी, तो कोई चाँदनी-सी लुभावक! महारानी बहुत सुन्दर थी! महाराज जो उसी पर अधिक आसक्त थे, यह किसी गुण पर ही। और शायद वह गुण उसकी खूबसूरती ही थी।

महारानी सती अपने सौन्दर्य से अनभिज्ञ नहीं थीं उसे अभिमान था, कि वह सारे अन्त:पुर में ही नहीं, शायद सारे संसार-भर में पहले नम्बर की सुन्दरी है। महाराज सुरत-सा व्यक्ति जो उस पर अपने आपको चढ़ा चुका था।

पुरुष की पराजय से नारी में अहंकार-मय प्रमोद प्रकट न हो, यह सम्भव नहीं। शायद,-महारानी सती का विश्वास था, कि सौन्दर्य से अधिक नारी की प्रतिष्ठा का दूसरा कोई हेतु नहीं हो सकता। अगर उसके पास रूप है, तो किसी दूसरे गुण या आकर्षण की कतई उसे जरूरत नहीं। भले ही उसका अन्तरंग स्वस्थ न हो। पुरुष की सहानुभूति उसे मिलेगी ही।

.... रूप नारी का जीवन है। कुरूपता उसकी मृत्यु!

बहुत दिनों बाद। एक दिन-

ताजे खिले हुए फूलों की उत्तेजक, आनन्द-दायक सुगन्धि से परिप्लावित विलास-भूमि में, अनेक सुन्दरियों के मधु-कटाक्ष और हृदय-वेधक उक्तियों के बीच महाराज सुरत अपनी प्राणेश्वरी महारानी सती के चन्द्राकार माथे पर तिलक खींच रहे थे। सौन्दर्य

की निरख-परख, देख-भाल, सहवास और इन्द्रिय-सुखों को तृप्त करने की कोशिश-यही सब तो महाराज का कार्यक्रम है! प्रेम-पुजारी हैं। यही तो उनका एक व्यसन है।....

बसन्त की मस्तानी वायु, कोयल की कूक।

समृद्धिशाली का केलि-भवन। तरुण-सौन्दर्य का प्राधान्य। स्वर्ग में इससे अधिक कुछ होगा, पता नहीं।....

महाराज की सारी शक्तियाँ उस माथे के छोटे से तिलक में केन्द्रित हो रहीं थीं। वह जो रूप को और भी लुभावक बनाने की सामर्थ्य रखता था। कभी बनाते, कभी पोंछ डालते। यह जो चाह रहे थे, कि अधिक से अधिक सुन्दर, कलापूर्ण, आकर्षक वह बन जाय!

सहसा प्रहरी ने प्रवेश कर निवेदन किया-'दो वन्दनीय दिगम्बर साधुओं का राज-महल में शुभागमन हुआ है, महाराज!'

महाराज की चैतन्यता लौटी। मुँह से निकला 'धन्य भाग्य!' प्रहरी चला गया।

महाराज उठ खड़े हुए। कुछ कहने ही जा रहे थे, कि सती ने टोका -'क्या तुम्हारे बिना वे भूखे लौट जायेंगे? ऐसा कोई बड़ा काम तो यह है नहीं, जो.... तुम्हें जाना ही चाहिए।'

'बड़ी भोली हो तुम।'-महाराज ने बहस करना व्यर्थ-सा समझते हुए, कहा-'साधु-सेवा में रस लेने से बड़ा काम दुनिया में मनुष्य के लिए और क्या हो सकता है -रानी। सोचो तो जरा?'

महाराज की सहज मृदुल वाणी ने सती के भीतर और भी तीखापन ला दिया, बोली-'ऐसी बातें सोचने-विचारने के लिए लिए आप कुछ कम थोड़े ही हैं।' महाराज मौन!

नारी-प्रेम को उनके ठेस लग रही थी-'उपास्य' जो क्रुद्ध-सा, मलिन-सा होता जा रहा था। उपासक प्रसन्न कैसे रहता?

कुछ सोचा! और वे चलने को हुए-कि सती ने फिर एक बाण-'जा तो रहे हैं, जाना जो जरूरी है। पर, लौटियेगा-कब? क्या प्रतीक्षा की जाय?'

'चित्त मत बिगाड़ो-सुन्दरी! मैं अभी, तुम्हारा तिलक सूखने भी न पायेगा, कि आया जाता हूँ। मुझे जो तुम्हारे चन्द्रानन को देखे बिना चैन नहीं मिलता।'

-और बगैर प्रत्युत्तर सुने महाराज विलास-भूमि से बाहर हो गये।

'यह निरादर? यह करारा अपमान?' सती ने खौलते हृदय से कहा।

पर, महाराज वहाँ नहीं थे। वे रानियाँ, सेविकाएँ वहाँ शेष थीं, जिनका मूल-विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं था।

मुँह कुचली सर्पिणी की तरह सती क्रोध में भर रही थी! सुनने वाला कोई है या नहीं इसकी उसे परवाह नहीं थी। दरवाजे की ओर आरक्त आँखों से घूरती हुई वह आप ही आप बड़बड़ाने लगी-तृणहीन धरती पर पड़े अंगार की तरह निस्सार-

'नहीं जानती थी, कि तुम्हारा प्रेम, प्रेम नहीं, दम्भ है, धोखा है। मुझे विश्वास था कि तुम मुझे प्रेम की देवी मान कर, मेरा आदर

करते हो। पूजते हो। प्यार करते हो लेकिन आज जान सकी, कि तुमने मुझे खिलौना समझा, सिर्फ खिलौना। वह खिलौना जिसका एक समझदार की नजरों में कोई बड़ा मूल्य नहीं। जब चाहा, जब तक चाहा मनोरंजन किया, नहीं तो दूर।'

क्रोध से थर-थर-विवेक से बिछड़ी, पाप से पूर्ण सुन्दरी सती कुछ क्षण मौन रही! मस्तिष्क से मूक-भाषणों को मुखरित करना जो कण्ठ को कठिन हो रहा था।

पर उसके विद्रोही मन ने उसे चुप न रहने दिया। वह फिर आग उगलने लगी भीतर की। फुंकारते हुए बोली-'हुःह! हत्या की जड़ तो वे हैं नंगे-साधु, जिन्हें शहर भर में मरने के लिए दूसरी कोई जगह ही नहीं मिली। वे हया बेशर्म कहीं के! अपनी आनन्द की दुनिया नहीं बसा सके तो चले दूसरे की आबाद-दुनियाँ में आग लगाने। न जाने कब की मुझसे दुश्मनी निकालने चले आए-कम्बख्त। मेरा स्थान था जहाँ, वह हृदय अपनी ओर खींच ले गए-उफ्।'

कुटिल प्रतिहिंसा के जहर ने सती की बची-खुची मानवता का अन्त कर दिया। विश्व-हितकारी, वन्दनीय, पतित-पावन गुरुओं के लिए अनेक कुवचन कह कर क्रोध शान्त करने लगी वह !.....

ओफ्! !!

दाँत पीसते, आरक्त-नेत्रों से खून बरसाती हुई सती बोली 'गनीमत समझें, कि तुम मेरी आँखों से ओझल हो-दुष्टो! नहीं तो बोटी-बोटी नुँचवा कर कुत्तों को डलवा देती।' वाणी में प्रकम्पन था, पाप की ज्वाला थी, और थी विवेक हीनता। पाप की पराकाष्ठा! सत्साधु-निन्दा का घोर पाप!!

महाराज की सहज मृदुल वाणी ने सती के भीतर और भी तीखापन ला दिया, बोली-'ऐसी बातें सोचने-विचारने के लिए लिए आप कुछ कम थोड़े ही हैं।' महाराज मौन!

नारी-प्रेम को उनके ठेस लग रही थी-'उपास्य' जो क्रुद्ध-सा, मलिन-सा होता जा रहा था। उपासक प्रसन्न कैसे रहता?

कुछ सोचा! और वे चलने को हुए-कि सती ने फिर एक बाण-'जा तो रहे हैं, जाना जो जरूरी है। पर, लौटियेगा-कब? क्या प्रतीक्षा की जाय?'

'चित्त मत बिगाड़ो-सुन्दरी! मैं अभी, तुम्हारा तिलक सूखने भी न पायेगा, कि आया जाता हूँ। मुझे जो तुम्हारे चन्द्रानन को देखे बिना चैन नहीं मिलता।'

-और बगैर प्रत्युत्तर सुने महाराज विलास-भूमि से बाहर हो गये।

'यह निरादर? यह करारा अपमान?' सती ने खौलते हृदय से कहा।

पर, महाराज वहाँ नहीं थे। वे रानियाँ, सेविकाएँ वहाँ शेष थीं, जिनका मूल-विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं था।

मुँह कुचली सर्पिणी की तरह सती क्रोध में भर रही थी! सुनने वाला कोई है या नहीं इसकी उसे परवाह नहीं थी। दरवाजे की ओर आरक्त आँखों से घूरती हुई वह आप ही आप बड़बड़ाने लगी-तृणहीन धरती पर पड़े अंगार की तरह निस्सार-

'नहीं जानती थी, कि तुम्हारा प्रेम, प्रेम नहीं, दम्भ है, धोखा । मुझे विश्वास था कि तुम मुझे प्रेम की देवी मान कर, मेरा आदर

करते हो। पूजते हो। प्यार करते हो लेकिन आज जान सकी, कि तुमने मुझे खिलौना समझा, सिर्फ खिलौना। वह खिलौना जिसका एक समझदार की नजरों में कोई बड़ा मूल्य नहीं। जब चाहा, जब तक चाहा मनोरंजन किया, नहीं तो दूर।'

क्रोध से थर-थर-विवेक से बिछड़ी, पाप से पूर्ण सुन्दरी सती कुछ क्षण मौन रही! मस्तिष्क से मूक-भाषणों को मुखरित करना जो कण्ठ को कठिन हो रहा था।

पर उसके विद्रोही मन ने उसे चुप न रहने दिया। वह फिर आग उगलने लगी भीतर की। फुंकारते हुए बोली-'हुः ह! हत्या की जड़ तो वे हैं नंगे-साधु, जिन्हें शहर भर में मरने के लिए दूसरी कोई जगह ही नहीं मिली। वे हया बेशर्म कहीं के! अपनी आनन्द की दुनिया नहीं बसा सके तो चले दूसरे की आबाद-दुनियाँ में आग लगाने। न जाने कब की मुझसे दुश्मनी निकालने चले आए-कम्बख्त। मेरा स्थान था जहाँ, वह हृदय अपनी ओर खींच ले गए-उफ्।'

कुटिल प्रतिहिंसा के जहर ने सती की बची-खुची मानवता का अन्त कर दिया। विश्व-हितकारी, वन्दनीय, पतित-पावन गुरुओं के लिए अनेक कुवचन कह कर क्रोध शान्त करने लगी वह !.....

ओफ्! !!

दाँत पीसते, आरक्त-नेत्रों से खून बरसाती हुई सती बोली 'गनीमत समझें, कि तुम मेरी आँखों से ओझल हो-दुष्टो! नहीं तो बोटी-बोटी नुँचवा कर कुत्तों को डलवा देती।' वाणी में प्रकम्पन था, पाप की ज्वाला थी, और थी विवेक हीनता। पाप की पराकाष्ठा! सत्साधु-निन्दा का घोर पाप!!

पात्र दान का पावन-पुण्य प्राप्त कर जब महाराज सुरत वापस लौटे, तब मुँह उनका अन्तरंग की प्रसन्नता से उद्दीप्त हो रहा था। वह अपने को भाग्यशाली समझ रहे थे। अपरिग्रहत्व के आदर्श दिगम्बर- साधुओं को आहार- दान करना जो साधारण चीज नहीं होती न ?

सोचते आ रहे थे-'धन्य है आज का दिन! साधु-सेवा का अवसर मिल सका!.... कितने पुण्य-कर्म से मिलता है। ऐसी महान् आत्माओं का दर्शन।'

पर जैसे ही विलास-भूमि में उन्होंने पैर रखा, कि वह अकचका कर दो-डग पीछे हट गये।

कैसा वीभत्स दृश्य ???

अनायास उनकी वाणी फूट पड़ी- 'यह क्या हुआ.... ?'

महाराज समीप आये!

जो कुछ देखने को उन्हें मिला, वह एक दम विचित्र था।- कौतुकमय इन्द्रजाल! अप्सरा के रूप को लज्जित करने वाला हारानी सती का सारा सौन्दर्य कुरूप बन गया है। कोढ़ फूट कला है। खून, पीव की दुर्गन्धि छूट रही है। सुगन्धि के कारण रों से घिरी रहने वाली नारी मक्खियाँ उड़ा रहीं है। वेदना से ह रही है.. उफ्! चाँदनी-सा शरीर, अमावस्या की रात-सा ा, डरावना लग रहा है।

महाराज स्तब्ध! चकित, अचम्भित !!

बोले-'अरे, यह हुआ क्या तुम्हें ? इतना परिवर्तन, इतनी

जल्दी ?' रूप नारी का जीवन है, कुरूपता उसकी मृत्यु, सती की मृत्यु हो चुकी थी, रूप जो उसका नष्ट हो चुका था। वह जो अब कुरूपा थी, बदसूरत थी, रुग्णा थी; कोढ़िन थी । वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

महाराज ने फिर पूछा-'रोती हो ? बताओ न ? बात क्या है-प्रिये!

'कुछ नहीं है-महाराज! मुझे अपने किये का फल मिल गया है!' -दु:खित, दीन और पीड़ित स्वर में सती ने कहा।

'क्या किया था तुमने ? क्या मेरे पीछे कुछ घटना घटी ?'

'हाँ! क्रोध की गुलामी में मैंने वह पाप कर डाला, जो दुनिया के बड़े पापों में से एक था। और उसी तीव्र पाप का तत्काल-हाथों हाथ यह नतीजा मुझे मिला है-प्राणेश्वर!

'कौन बड़ा पाप ?' -महाराज ने उत्सुक हो पूछा!

'साधु-निन्दा!'

'ऐं, साधु-निन्दा की तुमने ?'

रानी चुप!

महाराज का मन साधु-दर्शन की ओर फिर गया। आप ही आप कहने लगे-दमदत्त और धर्मरुचि महा-मुनि एक महीने की उपवास- अवधि को पूर्ण कर नीरस आहार के लिए वन से नगर में पधारे थे। सौभाग्य कि मुझे पुण्य-प्राप्त करने का मौका मिल गया! क्या वह तुम्हारी निन्दा के पात्र थे ? जिनका कि जीवन ही आत्म-हित और परोपकारमय होता है! बोलो तो ? सुनें तो कहना क्या चाहती हो इस बारे में ?'

पात्र दान का पावन-पुण्य प्राप्त कर जब महाराज सुरत वापस लौटे, तब मुँह उनका अन्तरंग की प्रसन्नता से उद्दीप्त हो रहा था। वह अपने को भाग्यशाली समझ रहे थे। अपरिग्रहत्व के आदर्श दिगम्बर- साधुओं को आहार- दान करना जो साधारण चीज नहीं होती न ?

सोचते आ रहे थे-'धन्य है आज का दिन! साधु-सेवा का अवसर मिल सका!.... कितने पुण्य-कर्म से मिलता है। ऐसी महान् आत्माओं का दर्शन।'

पर जैसे ही विलास-भूमि में उन्होंने पैर रखा, कि वह अकचका कर दो-डग पीछे हट गये।

कैसा वीभत्स दृश्य ???

अनायास उनकी वाणी फूट पड़ी- 'यह क्या हुआ.... ?'

महाराज समीप आये!

जो कुछ देखने को उन्हें मिला, वह एक दम विचित्र था।- कौतुकमय इन्द्रजाल! अप्सरा के रूप को लज्जित करने वाला महारानी सती का सारा सौन्दर्य कुरूप बन गया है। कोढ़ फूट निकला है। खून, पीव की दुर्गन्धि छूट रही है। सुगन्धि के कारण भ्रमरों से घिरी रहने वाली नारी मक्खियाँ उड़ा रहीं है। वेदना से कराह रही है.. उफ्! चाँदनी-सा शरीर, अमावस्या की रात-सा काला, डरावना लग रहा है।

महाराज स्तब्ध! चकित, अचम्भित !!

बोले-'अरे, यह हुआ क्या तुम्हें ? इतना परिवर्तन, इतनी

जल्दी ?' रूप नारी का जीवन है, कुरूपता उसकी मृत्यु, सती की मृत्यु हो चुकी थी, रूप जो उसका नष्ट हो चुका था। वह जो अब कुरूपा थी, बदसूरत थी, रुग्णा थी; कोढ़िन थी । वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

महाराज ने फिर पूछा-'रोती हो ? बताओ न ? बात क्या है- प्रिये!

'कुछ नहीं है-महाराज! मुझे अपने किये का फल मिल गया है!' -दु:खित, दीन और पीड़ित स्वर में सती ने कहा।

'क्या किया था तुमने ? क्या मेरे पीछे कुछ घटना घटी ?'

'हाँ! क्रोध की गुलामी में मैंने वह पाप कर डाला, जो दुनिया के बड़े पापों में से एक था। और उसी तीव्र पाप का तत्काल-हाथों हाथ यह नतीजा मुझे मिला है-प्राणेश्वर!

'कौन बड़ा पाप ?' -महाराज ने उत्सुक हो पूछा!

'साधु-निन्दा!'

'ऐं, साधु-निन्दा की तुमने ?'

रानी चुप!

महाराज का मन साधु-दर्शन की ओर फिर गया। आप ही आप कहने लगे-दमदत्त और धर्मरुचि महा-मुनि एक महीने की उपवास- अवधि को पूर्ण कर नीरस आहार के लिए वन से नगर में पधारे थे। सौभाग्य कि मुझे पुण्य-प्राप्त करने का मौका मिल गया! क्या वह तुम्हारी निन्दा के पात्र थे ? जिनका कि जीवन ही आत्म-हित और परोपकारमय होता है! बोलो तो ? सुनें तो कहना क्या चाहती हो इस बारे में ?'

पर, सती के पास कहने को शेष था क्या ? वह बेचारी पापिन स्वयं ही नरक यातना भोग रही थी। रूप का अभिमान, वह दर्प, राजसी तेज कुछ बाकी नहीं था। वह मर जो चुकी थी- अपनी मान्यता के मुताबिक !

वह निरुत्तर ।

महाराज कुछ देर क्रुद्ध-दृष्टि से देखते रहे उसकी ओर। फिर सहसा उनकी मुखाकृति सौम्य होती गई ।

सोचने लगे-'पाप ! बड़ा शक्तिशाली है-तू ! एक क्षण में कुछ का कुछ कर सकता है, ऐं ? और दुनिया में रह कर तुझसे बचना भी तो आसान नहीं है हर किसी को ? तब ?'

पाप के भय ने महाराज के मुँह को म्लान कर दिया ! वे चिन्तित से, दु:खित से उस विलास-भवन में चहल कदमी करने लगे जहाँ कुछ समय पहले आनन्द की हँसी हँस रहे थे !

क्षणभंगुर-विश्व !

अनायास महाराज के मुँह से निकला-'पाप बुरा है !

सती ने घावों की पीड़ा से कराहते हुये कहा-'नहीं करना चाहिए इसलिए कि उससे दु:ख मिलता है !'

रात-दिन अन्त:पुर में पड़े रहने वाले महाराज सुरत जब विलास-भवन से निकले, तो राज-पाट की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं, चल दिये, आत्म-हित की कामना लेकर वैराग्य के पथ पर !

सब देखते रह गये-अवाक् !
